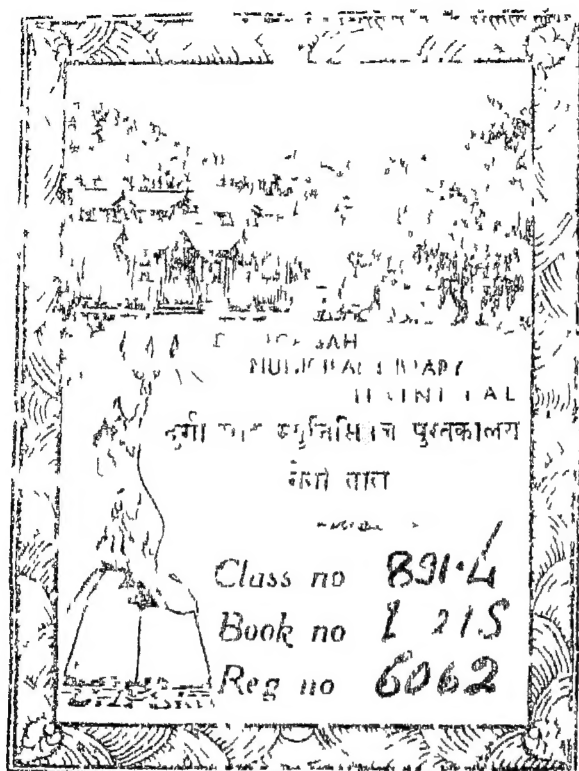

Class no 891·4
Book no L 21S
Reg no 6062

मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के शोध-कार्य में संलग्न विद्वान् श्री परशुराम चतुर्वेदी अपने विचारों में कितने आधुनिक हैं यह प्रस्तुत पुस्तक से पता चलता है जिसका विषय आधुनिक ही नहीं, अति आधुनिक भी है। यह एक ऐसी विशेषता है जिस ओर सजग पाठकों का ध्यान बरबस खिंच जाता है। इसमें शास्त्र एवं स्वतंत्र चिन्तन का अद्भुत गठ-बन्धन उपलब्ध है।

हमें आशा करनी चाहिए कि यह पुस्तक साहित्य-गत प्रश्नों के हल नये आलोक में ढूँढ़ निकालने में सहायक सिद्ध होगी। ऐसी चिन्तन प्रधान एवं विचारोत्तेजक पुस्तक का सार्वदेशिक स्वागत होना स्वाभाविक है।

साहित्य-पथ

साहित्य-पथ

परशुराम चतुर्वेदी

साहित्य भवन (प्राइवेट) लिमिटेड
इलाहाबाद

चार रुपये

मुद्रक : यू० पी० प्रिन्टिङ्ग प्रेस, ४२ एडमॉन्स्टन रोड, इलाहाबाद।

प्रस्तावना



मनुष्य चिरकाल से प्रकृति-गत त्रिविध शक्तियों (ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश) के अस्तित्व से तो परिचित है और उनका महत्व-बोध भी कर चुका है, किन्तु उसे अपनी जय-यात्रा में अभी तक जितना विष्णु एवं शिव की ओर अपना ध्यान केन्द्रित रखने का अवसर मिला है, उतना ब्रह्मा की ओर नहीं। शक्ति अपने-आप में प्रायः निर्दोष होती है, किन्तु उसका उपयोग सदोष हो सकता है। इसलिए ब्रह्मा को वह आदर तथा सम्मान नहीं प्राप्त हो सका है जो विष्णु एवं शिव को सहज ही सुलभ हो गया है। जिस दिन ब्रह्मा को भी वह पद प्राप्त हो सकेगा, उस दिन संसार में प्रेम, शांति और सर्जन का साम्राज्य स्थापित हो चुका रहेगा। वैर-विरोध, अशांति तथा संहार-लीला तिरोहित हो चुकी रहेगी। परन्तु इस स्थिति तक पहुँचने के लिए हमें सही दिशा में कदम बढ़ाना होगा। प्रगति-विरोधी समस्त शक्तियों को भी मोड़ कर सहायक बनाना होगा। तभी मनुष्य वास्तविक विजय-पर्व मना सकेगा। साहित्य-पथ पर हम इसलिए नहीं चलते कि हमें चलना पड़ता है, अपितु इसलिए कि उस पथ का पथिक बनने में हम किसी अद्वितीय रस का आनन्द अनुभव करते हुए उसे लुटाते रहने में भी समान अनुभूति प्राप्त करते हैं।

'साहित्य-पथ' के अन्तर्गत मेरे ऐसे कुछ लेख संगृहीत हैं जो प्रधानतः साहित्य और विशेषकर हिन्दी साहित्य से सम्बद्ध हैं, किन्तु जिनका एक दूसरे के साथ कोई प्रत्यक्ष लगाव भी नहीं है। ये समय-समय पर और केवल फुटकर रूपों में ही लिखे गए थे। इनमें से एकाध लगभग ३५-४० वर्ष तक पुराने भी कहे जा सकते हैं। ये प्रायः सभी पहले कहीं न

कहीं प्रकाशित भी हो चुके हैं और वहाँ से अधिकतर ज्यों के त्यों ले लिये गए हैं। इनमें से कुछ के अन्तर्गत विभिन्न साहित्यिक प्रश्नों पर किये गए मेरे अध्ययन का अपना निष्कर्ष भी पाया जा सकता है।

यहाँ पर संगृहीत लेखों में कुछ ऐसे भी मिल सकते हैं जिनके द्वारा कतिपय साहित्य विषयक प्रश्नों को छोड़कर उनके आधार पर विचार-विनिमय आमंत्रित कर देना ही मेरा प्रमुख उद्देश्य रहा है। इस कारण, उनका अपना मूल्य भी हो सकता है। ऐसे लेखों में मेरी ओर से अधिकतर केवल संकेत मात्र कर दिया गया ही दीख पड़ेगा। परन्तु जहाँ तक पता है, उन पर अभी तक इधर कहीं यथेष्ट चिन्तन नहीं किया गया है और वे साहित्य-प्रेमियों के विचारार्थ पूर्ववत् प्रस्तुत समझे जा सकते हैं। जहाँ तक इनमें से कुछ अन्य के अन्तर्गत किये गए किसी क्रमागत विकास के ऊपर मेरे दृष्टिक्षेप, वैसे मूल्यांकन अथवा तुलनात्मक अध्ययन आदि की बात है उन्हें मेरी ओर से किये गए विनम्र प्रयास के रूप में भी ग्रहण किया जा सकता है।

पूर्व प्रकाशित लेखों को जिनके यहाँ से लेकर यहाँ फिर से पुस्तक रूप में प्रकाशित किया जा रहा है उनके अधिकारियों के प्रति मैं आभार प्रदर्शित करता हूँ।

बलिया,
चैत्र सुदी १ सं० २०१८

परशुराम चतुर्वेदी

विषय-सूची

साहित्य-पथ के चरण-चिह्न

(१)

'साहित्य' शब्द का व्युत्पत्तिमूलक सम्बंध 'सहित' शब्द के साथ जुड़ा हुआ है जो (सह् + इत के अनुसार) संयुक्त, अन्वित वा समेत अर्थ समन्वित है अथवा जो 'स' (= साथ) + 'हित' (= धारण किया हुआ वा अपनाया हुआ) से बना समझा जाने पर, 'हित के साथ वर्तमान' अर्थ का द्योतक है जिस कारण ('सहित' का भाव सूचित करने से) यह शब्द अन्विति, अनुकूलता और एकत्र होने का अभिप्राय प्रकट कर सकता है। तदनुसार, इस शब्द पर विचार करते समय, हमारा ध्यान कभी-कभी 'सहित' से मिलते-जुलते 'संहित' एवं समाहित' शब्दों की ओर भी चला जाता है जिनमें से प्रथम का अर्थ (सम् + धा = धारण करना वा संग्रह करना के अनुसार) एकत्र किया हुआ, सम्बद्ध वा संगृहीत होता है। इसी प्रकार, दूसरे का भी अर्थ (सम् + आ + धा के अनुसार) अंगीकृत, निष्पादित अथवा संचित हुआ करता है। परन्तु 'साहित्य' शब्द सामान्यतः केवल उस लिपिबद्ध ज्ञान-राशि का ही बोधक समझा जाता है जो क्रमशः निर्मित एवं संचित होती आ रही है तथा जिसके द्वारा किसी एक भाव के साथ दूसरे भाव के, एक भाषा के साथ दूसरी भाषा के, एक मनुष्य के साथ दूसरे मनुष्य के अथवा एक युग के साथ दूसरे युग के साहचर्य एवं सामंजस्य की संभावना और स्थापना भी होती रही है। इस व्यापक अर्थ में, इसका एक पर्याय 'वाङ्मय' शब्द भी प्रयुक्त हुआ करता है। अतएव इसके सम्बंध में वर्गीकरण करने पर हम इसे बहुधा विषयानुसार बाल-साहित्य, लोक-साहित्य, धर्म-साहित्य जैसे, भाषानुसार

हिन्दी-साहित्य, संस्कृत साहित्य, अंग्रेजी साहित्य जैसे, देशानुसार भारतीय साहित्य, अमरीकी साहित्य, योरुपीय साहित्य जैसे तथा युगानुसार प्राचीन साहित्य, मध्यकालीन साहित्य, आधुनिक साहित्य जैसे विभिन्न वर्गों में विभाजित भी कर दिया करते हैं।

परन्तु 'साहित्य' शब्द का उपर्युक्त व्यापक अर्थ, इसकी साधारण दशा में ही किया जाता है। इसका एक अन्य विशिष्ट रूप भी है जिसके अनुसार यह केवल उन रचनाओं को ही सूचित करता है जिनमें काव्यत्व का गुण भी वर्तमान हो। फलतः इस अर्थ के आधार पर, 'साहित्य' के अन्तर्गत उन किन्हीं भी रचनाओं का समावेश नहीं किया जा सकता जिन्हें दर्शन, विज्ञान, इतिहास अथवा शिक्षादि सम्बंधी ग्रंथों की कोटि में रखा जाता है और जिन्हें हम अधिकतर ज्ञानोपार्जन के उद्देश्य से ही पढ़ा करते हैं। इस साहित्य की श्रेणी में केवल वे ही रचनाएँ आ सकती हैं जिनसे हमें विशुद्ध मानसिक आनन्द अथवा काव्यानन्द की भी उपलब्धि होती है। इसका यह विशिष्ट गुण इसको कलात्मकता प्रदान करके इसे अन्य प्रकार के साहित्य से सर्वथा पृथक् कर दिया करता है। वास्तव में ऐसे साहित्य की रचना ही प्रायः साधारण अनुभूति पर आश्रित नहीं रहा करती और न उसका लक्ष्य सदा सर्व-साधारण द्वारा 'उपयोग' हुआ करता है। इसका वास्तविक लगाव उस जगत् से रहा करता है जो सत्य-सा प्रतीत होने पर भी, हमारे दैनिक व्यवहार के लिए सभी प्रकार से अनुकूल नहीं पड़ा करता और न जिसका सबके लिए, इस दृष्टि से, वैसा कोई अर्थ ही हो सकता है। साहित्य हमारे जीवन को अपने साथ लेकर ही चला करता है और प्रायः इसी के अनुसार उसकी सफलता भी आँकी जाती है, किन्तु इसमें उसके बुद्धिपक्ष की अपेक्षा हृदयपक्ष कहीं अधिक प्रतिबिंबित होता है। ऐसे साहित्य के अन्तर्गत अधिकतर काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी तथा निबन्ध-सम्बंधी ग्रंथों की गणना की जाती है। तदनुसार, इसकी चर्चा करते समय, हम इनकी वैसी साहित्यिक विशेषताओं का ही उल्लेख भी किया करते हैं।

हिन्दी साहित्य के इतिहास पर एक सरसरी दृष्टि डालने पर भी पता चल जाता है कि इसके निर्माण एवं विकास में परंपरा एवं प्रयोग का हाथ कहाँ तक रहा है तथा कहाँ तक इसके विषय में हम किसी प्रगति की संभावना भी कर सकते हैं। इसमें संदेह नहीं कि हिन्दी भाषा का क्रमिक विकास अपभ्रंश से ही हुआ होगा और इसे अपना वर्तमान रूप ग्रहण करने में, अन्य अनेक भाषाओं की भी सहायता समय-समय पर लेनी पड़ी होगी। शब्दों के चयन, उनके समुचित विन्यास, वाक्य-योजना एवं छंदः प्रयोग तक में यह अपभ्रंश के अतिरिक्त, संस्कृत, फ़ारसी तथा अंग्रेजी जैसी भाषाओं तक का न्यूनाधिक ऋणी ठहरायी जा सकती है और इन बातों के कारण इसमें प्रभूत शक्ति एवं योग्यता का आ जाना भी सिद्ध किया जा सकता है। इसी प्रकार अपने साहित्य का निर्माण करते समय भी इसे दूसरों से कम सहायता नहीं मिली है। जिस अपभ्रंश से हिन्दी भाषा को अपना मूल स्वरूप उपलब्ध हुआ उसके साहित्य से भी प्रेरणा प्राप्त करना इसका स्वभावसिद्ध अधिकार था ही, इसने उन भाषाओं के साहित्यों से भी कई बातें उधार ले ली जिनसे इसका वैसा सीधा सम्पर्क नहीं था। किसी भी साहित्य की सार्थकता, उसके निर्माताओं के जीवन-दर्शन तथा उनकी जीवन-पद्धति के अतिरिक्त, वैसे सहयोग एवं साहचर्य पर भी निर्भर होती है जिनको उन्हें परिस्थिति वश अपनाना पड़ जाता है। फलतः जब कभी हिन्दी भाषियों को अन्य भाषा वालों के सम्पर्क में आना पड़ा अथवा इन्होंने उनके साहित्यों का अध्ययन और परिशीलन किया, इनकी मनोवृत्ति उनके द्वारा कुछ न कुछ प्रभावित हुए विना नहीं रह सकी जिसका परिणाम इनके द्वारा प्रस्तुत किये गए हिन्दी साहित्य पर भी स्पष्ट रूप में दीख पड़ा।

हिन्दी साहित्य के इतिहास का आरम्भ प्रायः विक्रम की आठवीं वा नवीं शताब्दी से किया जाता है जिस समय सहजयानी बौद्ध सिद्ध अपने चर्यापदों एवं दोहों की रचना आरम्भ कर चुके थे। परन्तु सिद्धों में सबके सब बौद्ध ही नहीं थे, अन्यान्य भी थे। इन उपलब्ध रचनाओं को देखने

से पता चलता है कि ये वास्तव में, अपभ्रंश के माध्यम से ही निर्मित की गई हैं। इनमें हिन्दी अथवा किसी अन्य प्रादेशिक भाषा का भी विकसित अथवा अर्द्ध विकसित रूप तक स्पष्ट लक्षित नहीं होता। वर्तमान हिन्दी के साथ उनकी भाषा की तुलना करने पर केवल इतना ही अनुमान किया जा सकता है कि इसकी अनेक बातें उसके अन्तर्गत बीज रूप में सुरक्षित होंगी। इन दोनों की परंपरा एक ही जान पड़ती है और इन दोनों में रचे गए साहित्य के अधिकांश में भी एक विचित्र साम्य दीख पड़ता है। कम से कम अपभ्रंश साहित्य के, आठवीं या नवीं से लेकर बारहवीं वा तेरहवीं ईसवी शताब्दी तक वाले समृद्ध युग की रचनाओं के साथ हिन्दी साहित्य की पंद्रहवीं शताब्दी के पूर्व तक की आदि कालीन रचनाओं की तुलना करने पर तो यह स्पष्ट हो जाते देर नहीं लगती कि वे दोनों न केवल अधिकतर स्वरूपतः प्रत्युत वस्तुतः भी एक और अभिन्न परंपरा की ही ओर संकेत करते हैं। जब दोनों का मूल एक रहा करता है तब तो इसका कोई प्रश्न ही नहीं रहता, दोनों के क्रमशः पृथक् हो जाने पर भी मौलिक प्रवृत्तियों में उतना अन्तर नहीं आ पाता। यदि समय पाकर उनमें कोई विशेषता आने लगती है तो वह भी उनके विकास को ही सूचित करती है।

अपभ्रंश साहित्य के उपर्युक्त समृद्ध युग में प्रमुखतः तीन प्रकार के साहित्यकार थे जिनमें से प्रथम वर्ग वाले सिद्ध, आध्यात्मिक वा सांप्रदायिक साहित्य की स्फुट रचनाएँ निर्मित कर रहे थे, द्वितीय वर्ग वाले जैन कवियों का भी साहित्य विशेषकर नैतिक वा धार्मिक ही कहा जा सकता था और उसका बहुत-सा अंश प्रबन्ध-काव्य की कोटि का था तथा शेष तृतीय वर्ग वाले चारणों का लक्ष्य अपने आश्रयदाता राजाओं के उच्च वंश एवं ऐश्वर्य का गुणगान करना था। ऐसे कवियों के कुछ फुटकर पद्य भी उपलब्ध हैं जिनमें वीर एवं शृंगार रसों के उदाहरण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। ऐसे एकाध मुसलमान कवियों की भी अपभ्रंश रचनाएँ मिल जाती हैं जिनके विषय इनसे भिन्न हैं, किन्तु उनकी संख्या अधिक

नहीं जान पड़ती और न, इसी कारण, उन्हें इस प्रसंग में उतना महत्व ही दिया जा सकता है। इन तीनों में से सिद्धों की रचनाओं की ओर पहले ही से संकेत किया जा चुका है, जैन कवियों के प्रबन्ध-काव्य बहुधा 'चरिउ' (चरित) के नाम से अभिहित किये जाते थे जिनमें प्रायः शांत एवं शृंगार रसों को उदाहृत करने वाले वर्णनों का समावेश रहता था और उनकी अन्य अनेक रचनाओं के अन्तर्गत व्रतों और नीतिपरक उपदेशों की चर्चा की गई रहती थी। इसी प्रकार चारण कवियों की रचनाएँ प्रायः सामंतों के प्रेम-व्यापार एवं युद्ध-सम्बंधी घटनाओं से ही भरी रहा करती थीं।

अपभ्रंश काव्य-साहित्य की ये तीनों ही परंपराएँ हिन्दी में आयीं और विकसित होती गईं। सिद्धों की फुटकर रचनाओं में निहित प्रवृत्तियों को सर्व-प्रथम हिन्दी के नाथ कवियों ने अपनाकर उन्हें आगे बढ़ाया। ये नाथपंथी कवि सिद्धों जैसे नास्तिक नहीं थे, किन्तु इनमें उनकी अन्य विचार-धाराएँ प्रायः उसी प्रकार प्रकट होती दीख पड़ीं। इन्होंने धार्मिक जीवन में बढ़ते हुए पाखंडों एवं आडम्बरों का उसी प्रकार विरोध किया तथा बाह्य बातों के कारण बढ़ते जाने वाले भेदभाव को भी रोकना चाहा। परन्तु इन्होंने उसके साथ ही अपनी रचनाओं द्वारा योग-साधना के माध्यम से प्राप्त किये जाने वाले आत्म-तत्व के ज्ञान का उपदेश देकर जिस नवीन तथ्य की अवतारणा कर दी वह उस प्रचलित रचना-शैली के लिए अपूर्व वस्तु थी। नाथपंथी कवियों ने इस प्रकार उस 'परंपरा' में इसके आधार पर एक नया 'प्रयोग' किया। फिर हम देखते हैं कि उस पुरानी कथन-शैली को पीछे कबीर, नानक और दादू जैसे संत कवियों ने भी अपनाया और जिस प्रकार नाथपंथियों ने सिद्धों के दोहों तथा चर्यापदों की जगह क्रमशः 'सबदियों' एवं 'पदों' की सृष्टि की थी, प्रायः उसी प्रकार इन संतों ने भी अपनी बानियों में क्रमशः 'साखियों' एवं 'शब्दों' का व्यवहार किया और उनके कार्य को प्रेरणा प्रदान की। संतों ने सिद्धों के 'सहज' और 'शून्य' को नाथपंथियों की ही भाँति ग्रहण किया और

उन्हें आस्तिक भाव से भी देखा। परन्तु इसके साथ ही इन्होंने आत्म-तत्व को एक अनिर्वचनीय व्यक्तित्व भी दे डाला। इस प्रकार, उसके प्रति असीम श्रद्धा एवं प्रेम का भाव प्रदर्शित करते हुए एक ऐसे नवीन 'प्रयोग' का सूत्रपात कर दिया जिससे सारी बातें सरस बन गईं।

इसी प्रकार हम देखते हैं कि जैन कवियों द्वारा प्रचलित की गई प्रबन्ध रचना-शैली में भी आगे नवीन प्रयोग हुआ। जैन कवियों ने अपने अपभ्रंश 'चरिउ' की रचना द्वारा तथा पुराणों का भी निर्माण करके जैन तीर्थ-करों और महापुरुषों के आदर्श जीवन का परिचय दिलाया था। इसके साथ ही कर्मविपाक एवं पुनर्जन्मवाद की प्रतिष्ठा भी की थी। जैन मुनियों की स्फुट रचनाओं में भी अधिकतर नैतिक आचरण की बातें ही दी जाती रहीं। जैन कवियों के कुछ प्रबन्ध-काव्यों को 'रास' की भी संज्ञा दी जाती थी और उनमें प्रेम-सम्बंधी आख्यानों का भी समावेश कर दिया जाता था। परन्तु इन प्रेमाख्यानों का भी अंत प्रायः नैतिक या साम्प्रदायिक महत्व की बातों में ही हो जाया करता था। जैन कवियों की इस काव्य-रचना-परंपरा में, इसी कारण, रूढ़िवादिता की गंध आने लगी थी और इस पर संकीर्णता का दोष भी मढ़ा जा सकता था। इनके पीछे जिस समय भक्ति-विषयक आन्दोलनों द्वारा उत्तरी भारत में नवीन जागृति उत्पन्न हो गई और भगवान राम एवं कृष्ण के भक्तों को जब अपने इष्ट-देव के चरित्रों का आदर्श रखना अपना कर्त्तव्य-सा प्रतीत होने लगा, उस समय जैनियों की उपर्युक्त 'चरिउ' रचना-शैली को इन लोगों ने भी अपना लिया। राम एवं कृष्ण के 'जीवन-चरितों' को जैन कवियों ने भी महत्व दे रखा था, किन्तु उन्होंने इन्हें अपने इष्टदेवों के रूप में नहीं देखा था। जैन पुराणों के अन्तर्गत ये केवल 'त्रिषष्टि पुरुषों' तक में ही गिने जा सके थे और स्वयंभू तथा पुष्पदंत जैसे महान जैन कवि तक भी इन्हें अपनी-अपनी रचनाओं में वह स्थान न दे सके थे जिसके कारण ये विशेष लोक-प्रिय हो सकते थे। भक्त कवि गोस्वामी तुलसीदास ने अपने ग्रंथ 'रामचरित मानस' की रचना कर अपने इष्टदेव राम को वह महत्व बड़ी सफलता

के साथ प्रदान कर दिया और अपने पीछे आनेवाले कृष्ण भक्तों तक के लिए मार्ग-प्रदर्शन भी कर दिया।

गोस्वामी तुलसीदास ने जिस प्रकार श्रद्धा एवं भक्ति का रंग चढ़ाकर 'चरित काव्य' में नया जीवन डाला, उसी प्रकार मुल्ला दाऊद, कुतबन और जायसी जैसे सूफ़ी कवियों ने भी जैन कवियों के प्रेमाख्यानों का सूत्र पकड़कर अपने नवीन 'प्रयोग' किये और अपनी प्रेम एवं विरह भरी भावनाओं के ताने-बाने सजाकर विलक्षण प्रेम-गाथाओं की सृष्टि कर डाली। जैन कवियों ने प्रेमी एवं प्रेमिका के बीच जिस प्रेम-व्यापार का प्रदर्शन किया था उसका अंत प्रेम-तत्व को हेय ठहराकर ही किया जाता था और उनकी सभी कथाएँ जैन धर्म के महत्व प्रतिपादन में ही परिणत हो जाती थीं। परन्तु सूफ़ियों ने, इसके विपरीत, प्रेम-तत्व को ही सर्वाधिक महत्व दे डाला तथा अपने इष्टदेव की परम ज्योति को नारी के पद पर प्रतिष्ठित करते हुए एक प्रतीकात्मक शैली का प्रयोग कर दिया जिससे उनके अपने मत-प्रचार तक में भी पूरी सहायता मिली। यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि अपभ्रंश भाषा साधारण जन-जीवन की भाषा थी और उसके अन्तर्गत अन्य अनेक बातों के साथ-साथ उन लोक-गाथाओं के अभिव्यक्तिकरण की भी क्षमता थी जो उच्च वर्गों के लिए उपेक्षणीय कही जा सकती थी। तदनुसार अपभ्रंश साहित्य के माध्यम से क्रमशः लोक-जीवन के प्रति आकर्षण बढ़ा और हिन्दी के सूफ़ी कवियों तक आते-आते, ऐसी प्रेम-गाथाओं को भी महत्व दिया जाने लगा जिनकी पहुँच शिक्षित वर्गों तक नहीं हो सकती थी। सर्व-साधारण तक अपना संदेश पहुँचाने की चेष्टा करने वाले सूफ़ी कवियों के लिए, इस प्रकार, एक अन्य साधन भी मिल गया और उन्होंने जैन कवियों द्वारा निर्दिष्ट काव्यरूप का वर्ण्य विषय अधिकतर ऐसी कथाओं को ही बना डाला। जन-बोली अवधी का माध्यम स्वीकार करके इनके कथानकों को इस प्रकार विकास किया जिससे इनकी लोकप्रियता और भी बढ़ चली। निष्कर्ष यह कि जो 'चरिउ' पुराण एवं रास-काव्य जैन कवियों के यहाँ केवल सीमित महत्व के ही जान पड़ते

थे उनमें, भक्त एवं सूफ़ी कवियों ने अपने प्रमाणों द्वारा नये प्राणों का संचार कर न केवल पर्याप्त सरसता ही ला दी, अपितु उन्हें लोकप्रियता भी प्रदान कर दी।

अपभ्रंश काव्य की उपर्युक्त तृतीय वर्ग वाली परंपरा की रचनाओं में से चारणों के प्रबन्ध-काव्य भी 'रासो' संज्ञा द्वारा ही अभिहित किये जाते थे और उनकी फुटकर रचनाएँ प्रायः दोहों एवं सोरठों के रूप में पायी जाती थीं। इन सारी रचनाओं में से अधिकांश का वर्ण्य विषय शृंगार-रस परक अथवा वीर-रस परक हुआ करता था और कभी-कभी इन दोनों का पुट एक-सा भी रहा करता था। रासो काव्यों की रचना का आदर्श जिसे अपभ्रंश कवियों ने स्थापित किया था उसे ही पीछे हिन्दी कवियों ने भी अपनाया। इन्होंने लगभग उसी प्रकार अपने चरित-नायकों की अवतारणा की, उनकी तथा उनके वंशों की प्रशस्तियाँ लिखीं, उनके विविध साहसपूर्ण कार्यों के अतिरंजित चित्र खींचे तथा उनके शौर्य, ऐश्वर्य एवं उदारता की प्रशंसा में सैकड़ों पद रच डाले। आदि कालीन हिन्दी कवियों की ऐसी रचनाओं में वैसी कोई विशेषता नहीं लक्षित होती और काव्यरूढ़ियाँ तक भी ज्यों की त्यों उद्धृत हो जाती हैं। परन्तु जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया, हिन्दी वाली ऐसी रचनाओं के अन्तर्गत पूर्व प्रचलित पौराणिकता की छाप क्रमशः क्षीणतर होती चली गई और मध्ययुगीन शृंगार-काल के आ जाने पर इनमें वीर एवं शृंगार रसों का प्रायः पार्थक्य भी दीख पड़ने लगा। इधर वाले ऐसे काव्य ग्रंथों का निर्माण बहुधा काव्यशक्ति-प्रदर्शन के ही उद्देश्य से किया जाने लगा। काव्य शास्त्र-सम्बंधी विभिन्न आदर्शों के पालन में सजगता लाने के यत्न में अपेक्षाकृत अधिक नीरसता तक को प्रश्रय दिया जाने लगा। परन्तु, जहाँ तक शृंगार अथवा वीर-रस परक स्फुट रचनाओं को प्रस्तुत करने का प्रश्न है, इधर के हिन्दी कवियों ने उनके निर्माण में विशेष तत्परता दिखलायी और इनके द्वारा भी उन्होंने अधिकतर काव्य-तत्वों को ही उदाहृत किया। इस काल के शृंगारी कवियों की एक यह विशेषता भी

दीख पड़ी कि अपने नायकों एवं नायिकाओं को उन्होंने क्रमशः कृष्ण एवं राधा के रूप दे दिए।

(२)

अपभ्रंश साहित्य के अतिरिक्त जिन अन्य साहित्यों की परंपराओं को हिंदी साहित्य ने अपनाया उनमें संस्कृत साहित्य को प्रधानता दी जा सकती है और उसके अनन्तर फ़ारसी, प्राकृत, अंग्रेजी आदि के साहित्यों की भी चर्चा की जा सकती है। संस्कृत साहित्य वाली परंपरा की अनेक बातें स्वयं अपभ्रंश साहित्य में भी आ चुकी थीं जो, इसी कारण, समय पाकर उसके उत्तराधिकार में हिन्दी साहित्य को आपसे आप मिल गई। इनमें से कम से कम 'रामायण' एवं 'महाभारत' से ली गई राम एवं कृष्ण की जीवन-कथाओं तथा काव्य-शास्त्रीय प्रभावों की चर्चा इसके पहले की जा चुकी है। हिन्दी साहित्य ने इसके अतिरिक्त संस्कृत साहित्य से अपनी रचनाओं के लिए बहुत कुछ गेयत्व का गुण भी प्राप्त किया। इसने अपने पदों के अन्तर्गत लगभग उसी प्रकार के संगीत को प्रश्रय दे डाला जिस प्रकार संस्कृत कवि जयदेव आदि ने किया था। सिद्धों के चर्यापदों द्वारा जो कुछ गेयत्व इसे उपलब्ध हो सका था उसे इसने संस्कृत शब्दावली के प्रयोगों द्वारा और भी पूर्ण कर लिया। हिन्दी साहित्य ने उस काल से निरन्तर संस्कृत के ललित शब्दों को अधिकाधिक अपनाना आरम्भ कर दिया और इसकी यह प्रवृत्ति, इसके वर्तमान खड़ीबोली का रूप धारण करने पर, कहीं और भी अधिक लक्षित होती आई। हिंदी साहित्य ने, इसी प्रकार, फ़ारसी साहित्य तथा, कदाचित् उसी के माध्यम से, अरबी भाषा आदि के भी अनेक उपयुक्त शब्दों को अपनाया है। विशेषकर सूफ़ी कवियों द्वारा उसके बहुत-से ऐसे पारिभाषिक शब्दों तक को भी ग्रहण कर लिया गया है जो यों नहीं भी आ सकते थे। हिन्दी के सूफ़ी कवियों की प्रेम-गाथाओं में प्रदर्शित विचित्र 'प्रेम की पीर' भी इसकी एक अनमोल निधि ही कही जा सकती है। हिन्दी साहित्य ने अंग्रेजी साहित्य से भी अनेक आधुनिक युगीन साहित्यिक बातें ग्रहण की हैं जिनमें उसकी आलोचना-

पद्धति एक बहुमूल्य देन कही जा सकती है और उसे इसने उस परंपरागत-किन्तु विकसित रूप में उपलब्ध किया है जिसका इतिहास बड़ा है।

हिन्दी साहित्य को रस, अलंकार तथा काव्यांग-सम्बंधी अन्य अनेक गुणों का लाभ, प्रायः सभी उन साहित्यिक परंपराओं से होता आया है जिनके संपर्क में कभी न कभी आने का इसके निर्माताओं को उपयुक्त अवसर मिलता रहा है। तदनुसार, इसने उनके साहचर्य में आकर अपने कोष को समृद्ध किया है तथा अपने को सँवारा और सजाया है। इसने न केवल उनके विविध काव्य-रूपों, यहाँ तक कि लोक-साहित्य की प्रचलित गीत-पद्धतियों को ही अपनाया, अपितु उनकी बहुत-सी महत्वपूर्ण रचनाओं का भाषान्तर करके अथवा उनके आधार पर काव्य की सृष्टि करके भी अपने भीतर उनकी उन विषय-वस्तुओं, भावनाओं तथा कल्पनाओं आदि तक को स्थान दे दिया है जो इसके लिए यों अपरिचित ही मानी जा सकती थीं। संस्कृत साहित्य से प्राप्त की जाने वाली 'रामायण', 'महाभारत' और 'श्रीमद्भागवत' जैसी सांस्कृतिक परंपराओं के महत्व से प्रभावित होकर भारत के लगभग सभी प्रादेशिक भाषा-साहित्यों ने उन्हें अपने-अपने यहाँ रूपान्तरित करके सुरक्षित कर लिया है। ऐसी दक्षिणी भाषाओं में से तमिल, कन्नड़, तेलुगु और मलयालम के साहित्यों में इनका प्रवेश कदाचित् नवीं शताब्दी से ही होने लगा था और मराठी, गुजराती, बंगाली, असमी और उड़िया जैसी भाषाओं के साहित्यों में भी ये कम से कम बारहवीं तक अपनायी जाने लगी थीं। हिन्दी साहित्य के सामने उपर्युक्त अपभ्रंश वाली जैन रचनाओं का आदर्श वर्तमान था, किन्तु उसने कदाचित् पंद्रहवीं शताब्दी से 'रामायण' एवं 'महाभारत' की मूल कथाओं के आधार पर भी, इस प्रकार की रचनाएँ तथा भाषान्तर उपस्थित करना आरंभ कर दिया जिसकी परंपरा राम एवं कृष्ण के प्रति भक्ति-भाव प्रदर्शित करनेवाले कवियों की कृतियों द्वारा तब से निरन्तर प्रवाहित होती चली आई। अन्य अनेक प्रान्तीय भाषा-साहित्यों की भाँति हिन्दी साहित्य ने भी, समय पाकर, उन पाश्चात्य साहित्यिक परंपराओं

से कम लाभ नहीं उठाया है जिनका इस देश में, अंग्रेजी शासन के साथ प्रवेश होना आरम्भ हुआ था और जो आज तक भी जीवित हैं।

अंग्रेजों के इस देश में आ जाने तथा उनकी भाषा और उनके साहित्य का प्रचार आरंभ हो जाने पर पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति का हमें पहले पहल परिचय प्राप्त होने लगा और हमें क्रमशः किसी एक ऐसी नवीनता का बोध होता चला आया जिसका मेल हमारी अपनी प्राचीन संस्कृति से नहीं था, किंतु जो आधुनिक वैज्ञानिक प्रगति के आलोक में महत्वपूर्ण भी लगती थी। तदनुसार, यहाँ के निवासियों ने उसके द्वारा यथासम्भव पूर्ण लाभ उठाने के उद्देश्य से उसकी बहुत-सी बातों का अपनाना आरम्भ कर दिया। इसी प्रसंग में हमारा ध्यान अंग्रेजी जैसी भाषाओं की साहित्यिक उपलब्धियों की ओर भी आकृष्ट हुआ। हम उनका अध्ययन करने लगे और उनसे प्रेरणा प्राप्त करके अपनी त्रुटियों के सुधार तक में प्रवृत्त हो गए। हमने अपने-अपने साहित्यों में उन प्रवृत्तियों को भी स्थान देना आरम्भ कर दिया जिनका यहाँ पहले अभाव था तथा इस प्रकार के आदान-प्रदान की चेष्टा में हमें पीछे भी बोध होने लग गया कि हमारे साहित्य-निर्माण का एक 'पुनर्जागरण-युग' चल रहा है। इस कारण हमने न केवल अपनी पूर्वोपलब्ध साहित्य-सम्पत्ति का ही पुनर्निरीक्षण किया और उसे सँभालना चाहा, अपितु कभी-कभी इस प्रश्न पर गंभीर चिन्तन करना भी आवश्यक समझा कि "क्या हम इस ओर कोई नयी उलट फेर भी कर सकते हैं?" अथवा, "क्या हमारा यह कर्त्तव्य नहीं कि अपने पुराने दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन भी ला दें?" जहाँ तक हिन्दी साहित्य के इतिहास का प्रश्न है ऐसी प्रवृत्तियों का प्रथम रूप भारतेन्दु युग में ही दीख पड़ा था। इस काल में उसके भीतर पहले-पहल आत्म-निरीक्षण की चेतना जाग्रत हुई थी। हमने वस्तुस्थिति का पता लगाना चाहा था और इस प्रकार निर्मित मनोवृत्ति के आधार पर अपने विषय में कुछ-न-कुछ सुधार लाने का आदर्श भी सामने रखा था। परन्तु उस समय अपनी राजनीतिक

परिस्थिति के अनुकूल न रहने के कारण, हमारा ध्यान इस ओर पूर्ण रूप से आकृष्ट न हो सका था।

इसके अनन्तर द्विवेदी-युग के आ जाने पर भी हिन्दी के साहित्यिकों का ध्यान अधिकतर अपनी भाषा के स्वरूप-चिन्तन तथा उसके आवश्यक सुधारों की ही ओर बढ़ा रह गया। यद्यपि उन्होंने कुछ रचनाएँ प्रस्तुत कीं, फिर भी, उनका लक्ष्य विशेषकर अपने भीतर स्वाभिमान जाग्रत करने तथा अपने साहित्य को भरसक समृद्ध करने तक ही सीमित रखा जा सका। उस काल के कवियों ने समयोचित कविता की रचना द्वारा बाह्य इति-वृत्तात्मक बातों को ही अधिक महत्व दिया और विवरणात्मक निर्माण-शैली के झमेले में पड़कर विशुद्ध काव्यत्व अथवा भाव-सौन्दर्य की ओर से बहुत कुछ उदासीन बना रहना भी स्वीकार कर लिया। अतएव इसके पीछे आने वाले युग में, ऐसी प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया में 'छायावाद' का जन्म हुआ जिससे प्रेरणा प्राप्त करने वाले हिन्दी-कवियों ने अपना ध्यान विशेषकर अंतःकेन्द्रित करना आरम्भ कर दिया। छायावादी कवि अपनी कल्पना के क्षेत्र में विचरण करने लगे, उस भाव-लोक के सामने अपने पैरों के नीचे अवस्थित प्रत्यक्ष धरातल तक के प्रति भी उपेक्षा की दृष्टि रखने लग गए। इस प्रकार, काव्य के उपयुक्त भावनाओं की सृष्टि करने में प्रवृत्त होते हुए भी, निरे एकांगीपन के दोषभागी बनकर रह गए। एक ओर जहाँ ये भाव-सौन्दर्य की सजावट के पीछे पड़े, वहाँ दूसरी ओर, इन्होंने स्वभावतः, दुरूह वाग्जाल भी बुन डाला जिसका एक परिणाम यह हुआ कि हिन्दी कविता के प्रेमी पाठकों और श्रोताओं का जी ऊबने-सा लगा तथा किसी अन्य प्रतिक्रिया का भी अवसर आ गया। 'प्रगतिवाद' की कविताएँ उनकी त्रुटियों को दूर करने के लिए हमारे सामने लायी गईं जिनमें आत्मकेन्द्रित कवि के हास्य एवं रुदन का स्थान सर्व-साधारण के प्रत्यक्ष जीवन को दिया जाने लगा। उसकी पंक्तियों में प्रायः पायी जाने वाली रहस्यमयता को हटाकर यथार्थवादिता का स्वर भरा जाने लगा जिस कारण उनकी ऐसी रचनाएँ नितान्त विपरीत दिशा की ओर मुड़ चलीं। ऐसे ही

अवसर पर इन्हें मार्क्सवादी विचारधाराओं से भी प्रेरणा मिलने लगी और इन पर सांप्रदायिकता का रंग भी चढ़ना जान पड़ा।

इसमें संदेह नहीं कि उपर्युक्त प्रकार की रचनाओं के निर्माण-काल तक हिन्दी साहित्य की वे लगभग सभी परंपराएँ क्रमशः शिथिल पड़ती हुई गतिहीन तक बन चुकी थीं और उन्हें अंतःप्रेरणा प्रदान करने वाली कोई जीवन-शक्ति भी शेष नहीं रह गई थी। परवर्ती बानियों में सिद्धों, नाथपंथियों एवं संतों की रचनाओं वाली परंपरा की केवल पिष्टपेषण की प्रवृत्ति रह गई थी। तुलसी एवं जायसी की काव्यरचना-पद्धति के लिए उस काल का वातावरण ठीक अनुकूल नहीं जान पड़ता था तथा प्रजासत्तात्मक वातावरण के आगे फीकी पड़ती जाने वाली सामंतशाही के दरबारों में फूलने-फलने वाली शृंगारिकता भी अब अपनी अंतिम साँसें ले रही थी जिस कारण इन तीनों में से किसी भी भाव-धारा से कोई आशा नहीं की जा सकती थी। अतएव वस्तुस्थिति के कारण सर्वथा निराश न होने वाले कतिपय कवियों ने अपने-अपने ढंग के प्रयोग आरम्भ किये। राष्ट्रीयता के समर्थकों ने सर्वप्रथम, इतिवृत्तों का सहारा लेकर समयोचित पद्यों का निर्माण आरम्भ किया। फिर क्रमशः एक के अन्तर दूसरे छायावादी और प्रगतिवादी कवि भी क्षेत्र में अवतीर्ण हुए। परन्तु, इनमें से किसी भी वर्ग की रचनाएँ वास्तविक काव्य की दृष्टियों से पूर्णतः खरी न सिद्ध हो सकीं। अन्य सभी प्रादेशिक भाषाओं की कविताओं के सम्बंध में चाहे जो भी कहा जा सके, कम से कम हिन्दी काव्य का भविष्य उत्साहवर्धक नहीं प्रतीत हो रहा था। इस प्रसंग में केवल इतना ही संतोष किया जा सकता था कि इस भाषा के अन्य साहित्यिक क्षेत्रों में कुछ न कुछ प्रगति अवश्य होती जा रही है और इस ओर भी न्यूनाधिक यत्न होते ही दीख पड़ते हैं। फिर भी, इसमें संदेह नहीं कि चाहे विज्ञान-प्रधान युग का प्रभाव हो, चाहे अन्य किसी भी कारण से क्यों न हो, आधुनिक युग के आरम्भ-काल में काव्य विधायिनी प्रतिभा की शक्ति संभवतः क्षीणतर होती जान पड़ रही थी जिससे उर्दू

कवि हाली (सन् १८३७-१९१४ ईसवी) को किसी प्रसंग में यहाँ तक कह देना पड़ा था—

शाइरी मर चुकी अब ज़िन्दा न होगी यारो।
याद कर करके उसे जी न कुढ़ाना हर्गिज़ ॥

और तथ्य यह है कि वे अपने युग के 'सबसे बड़े शायर' भी माने जाते थे। इसी प्रकार, इक़बाल (सन् १८७५-१९३८ ईसवी) ने भी क्षुब्ध होकर लिखा था—

हिन्द के शायरों, सूरतगरों, अफ़सानानवीस।
आह बेचारों के आ'साब पर औरत है सवार ॥

हिन्दी काव्य-साहित्य के क्षेत्र में ऐसे ही समय 'प्रयोगवाद' की प्रवृत्ति जाग्रत हुई है। प्रयोगवाद का 'प्रयोग' शब्द यद्यपि उसके साथ रूढ़िगत होता चला जा रहा है और कई समीक्षकों की ही दृष्टि में यह केवल अनिश्चय, अनास्था एवं दिग्भ्रम का ही बोधक माना जा सकता है, किन्तु इसका अभिप्राय वस्तुतः उस अर्थ से भी हो सकता है जो इसके साथ साधारणतः लगा पाया जाता है। 'प्रयोग' शब्द का व्यवहार, यहाँ पर भी, किसी साध्य की प्राप्ति के लिए किये गए यत्नों के लिए ही समझा जा सकता है। यदि अपने किसी पूर्वाग्रह का हम सर्वथा परित्याग कर सकें तो, इस बात को स्वीकार कर लेने में भी कोई संकोच नहीं किया जा सकता कि ऐसे प्रयोगवादियों का उद्देश्य भी उस आदर्श को स्थापित करने का ही हो सकता है जो सच्चे साहित्य का प्रतिनिधित्व करता हो तथा जिसकी उपलब्धि के लिए उनके पूर्ववर्ती कवि एवं साहित्यकार भी कभी यत्नशील बन चुके हों। उनके केवल कभी असफल हो जाने मात्र के ही कारण हमें किसी अन्य वैसे साधकों के प्रति भी सहसा कोई प्रतिकूल भाव प्रकट करने का अधिकार नहीं और न, इस प्रकार, सब किसी को निरुत्साहित करके हम कभी कोई सत्कार्य ही सिद्ध कर सकते हैं।

इसके सिवाय जिन पूर्ववर्ती कवियों को हम उक्त प्रकार से 'असफल'

अथवा अन्य ऐसा विशेषण दे डालते हैं उनके प्रति हम, कदाचित्, सच्चे हृदय के साथ बरताव करना भी नहीं चाहते। हममें, संभवतः, उस उदारता की कमी भी लक्षित होती है जो किसी के सत्प्रयत्नों का निष्पक्ष मूल्यांकन करने में ही पायी जा सकती है। यदि उस दृष्टि से देखा जाय तो प्रत्येक पूर्ववर्ती प्रवृत्ति का साहित्यकार हमें अपनी ओर से कुछ न कुछ मूल्यवान बातें देता हुआ ही जान पड़ेगा। उसकी न केवल अपनी असफलता, प्रत्युत उसकी अनेक भूलें तक भी हमारा पथ-प्रदर्शन बराबर कर सकती हैं और वे हमें या तो कोई न कोई अनुभूति संबल प्रदान करके या केवल सजग बनाकर भी उस आदर्श की ओर अग्रसर कर सकती हैं जो हम सभी के लिए अभीष्ट होगा।

वास्तव में अन्यान्य प्रेरणाओं के अतिरिक्त प्रगतिवाद अन्तर्मुखी छायावाद के प्रति विद्रोह है और प्रयोगवाद बहिर्मुखी प्रगतिवाद की प्रतिक्रिया। परिवर्तन की भूख दोनों में ही है, एक में अधिकतर सक्रिय तो दूसरे में निष्क्रिय-सा। परन्तु जब तक वह शुद्ध प्रतिक्रिया मात्र रहेगा, तब तक उसका भविष्य संदिग्ध ही कहला सकता है। टिकाऊपन के लिए निर्दिष्ट लक्ष्य एवं स्वस्थ जीवन-दर्शन का आधार अपेक्षित है। परिस्थिति के नाम पर जीवन में कुण्ठा, नैराश्य और अनुत्साह प्रगति-पथ का संबल नहीं बन सकता। ऐसा लगता है कि इन जैसी भावनाएँ व्यक्तिगत अथवा आरोपित अधिक हैं, स्वाभाविक अथवा सामाजिक कम। जीवन-यात्रा में पराजय की मनोवृत्ति सहायक नहीं हुआ करती।

हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत प्रयोगवादी रचना-पद्धति का प्रभाव इसके लगभग सभी अंगों पर सिद्ध किया जा सकता है। किन्तु वह सर्वत्र एक समान मुखरित नहीं पाया जाता और जहाँ तक इसके काव्य वाले क्षेत्र का सम्बंध है, यह वहीं अधिक स्पष्ट और उल्लेखनीय भी है। सन् १९४३ ईसवी में 'तारसप्तक' नामक एक पुस्तक बहुत-सी हिन्दी-कविताओं के संग्रह रूप में प्रकाशित हुई थी। इसकी एक विशेषता यह भी थी कि इसमें उन रचनाओं के निर्माताओं की ओर से उनकी नवीन प्रयोग-शैली का कुछ

न कुछ परिचय भी दिया गया था। उनकी अनेक बातें अस्पष्ट थीं और उनकी कृतियों में भी अधिकतर कृत्रिमता की ही गंध बतलायी जा सकती थी तथा उनके संपादक द्वारा किये गए किसी प्रकार की नवीनता के दावे को सर्वथा स्वीकार भी नहीं किया जा सकता था। संपादक ने उसके कवियों के 'प्रयोग' करने की बात कही थी और उन्हें उसने 'राहों का अन्वेषी' भी बतलाया था जिस कारण उन्हें 'प्रयोगवादी' कहा जाने लगा। किन्तु उनकी रचनाओं को अभी तक प्रगतिवाद के लक्षणों से अधिक दूर न मानकर उन्हें विशेष महत्व नहीं प्रदान किया जा सका। इस कारण सन् १९५१ ईसवी में फिर एक अन्य वैसा 'दूसरा सप्तक' भी प्रायः उसी प्रकार संपादित होकर निकला और उसकी भूमिका द्वारा उसके संपादक ने ऐसे कवियों के 'प्रयोगवादी' कहे जाने के विरोध में लिखते समय कतिपय विवादास्पद प्रश्न छेड़ दिये। तदनुसार सन् १९५२ ईसवी में, उसकी वैसी 'सफाई' की निरर्थकता सिद्ध करते हुए हिन्दी के तीन 'समीक्षकों' (नलिन-केसरी-नरेश) ने विशुद्ध प्रयोगवाद का समर्थन किया तथा इसकी व्याख्या में अपनी एक नयी 'प्रयोग दशसूत्री' भी प्रकाशित करदी तथा सन् १९५४ ईसवी में दो और सूत्र भी उसमें जोड़ दिए। ये तीनों लेखक भी स्वयं कविताओं के रचयिता थे और, इस कारण, इन्होंने उसे किसी उदाहृत तर्क-शैली के साथ समझाने के अतिरिक्त, भली भाँति उदाहृत करने की भी चेष्टा की और उसे 'प्रपद्यवाद' जैसा एक नया नाम दे डाला। परन्तु उपर्युक्त दोनों 'सप्तकों' के संपादक श्री 'अज्ञेय' ने एक अन्य वैसा ही 'तीसरा सप्तक' संग्रह नामक सन् १९५९ ईसवी में भी निकाला जिसे अधिकतर 'नयी कविता' कहने की परंपरा चल पड़ी है। अब ये कवि किसी मार्ग के 'अन्वेषी' मात्र नहीं रह गए हैं। फिर भी इनमें जितनी पीड़ा की 'कसक' है उतनी 'विद्रोहाग्नि की 'भभक' नहीं जो 'गतिरोध' की स्थिति में अधिक स्वाभाविक कहला सकती है।

इस प्रकार, पूर्व प्रचलित साहित्य-परंपरा में परिवर्तन लाने के उद्देश्य से हिन्दी साहित्यकारों की ओर से कुछ न कुछ ऐसे प्रयोग किये जाते

दीख पड़ रहे हैं जिन्हें हम 'सजग' एवं 'तर्काश्रित' भी कह सकते है। उन्हें इसमें कहाँ तक सफलता मिल सकेगी इस विषय में अभी कोई वैसा अनुमान कर लेना युक्ति-संगत नहीं कहा जा सकता और न इसी कारण, उनकी उपलब्धियों का अभी कोई उचित मूल्यांकन ही किया जा सकता है अथवा उनकी किसी 'देन' के विषय में कोई निश्चित मत प्रकट किया जा सकता है।

इस बात में, कदाचित्, सभी सहमत हो सकते हैं कि हमारी प्राचीन साहित्य-परंपरा, अपने मार्ग में अग्रसर होती हुई किसी महत्वपूर्ण मोड़ तक आ चुकी है और इसके प्रगतिशील समीक्षक इतना और भी स्वीकार कर सकते हैं कि इसके अन्तर्गत क्रमशः किसी क्रान्ति का आ जाना तक असंभव नहीं है। जिस वेग के साथ विश्वजनीन चेतना और जीवन में उथल-पुथल होती जा रही है उसका प्रभाव विश्व-साहित्य पर भी पड़ सकता है। आधुनिक साधनों के सहारे उसके निकटतर सम्पर्क में आते जाने वाले भारतीयों का क्रमशः उसके द्वारा न्यूनाधिक प्रभावित होता जाना भी अनिवार्य-सा है। ऐसी दशा में हमें, किसी दिन अपनी साहित्यिक परंपरा की प्रगति के नाते, किसी महत्वपूर्ण प्रयोग का स्वागत करना आवश्यक प्रतीत हो सकता है। यहाँ तक भी संभव हो सकता है कि विश्व के साथ होड़ में अग्रसर होते हुए हम अपनी अनेक परंपराओं के प्रति कुछ उदासीन तक बन जायँ।



साहित्य में नये मोड़

साहित्य का प्रसंग आने पर कभी-कभी यह प्रश्न भी उठा दिया जाता है कि "क्या साहित्य-रचना की कोई अपनी परंपरा भी हुआ करती है अथवा इसका निर्माण सदा विविध प्रयोगों पर ही आश्रित रहा करता है ?" इसके सिवाय इस सम्बंध में कभी-कभी इस प्रकार की जिज्ञासा भी जागृत हो उठती है कि "क्या ऐसे साहित्य के प्रसंग में 'प्रगति' शब्द का भी कोई अर्थ हो सकता है ?" क्योंकि यदि साहित्य एवं जीवन का पारस्परिक सम्बंध किसी एक सामान्य तत्व पर ही आधारित हो तो उस दशा में उक्त दोनों प्रकार की संभावनाओं को प्रायः एक समान प्रश्रय दिया जा सकता है तथा, इसी प्रकार, हम उक्त जिज्ञासा को भी बहुत कुछ तर्क-संगत ही ठहरा सकते हैं। 'परंपरा' की संज्ञा उस नियम विशेष को दी जाती है जो अनिश्चित काल से युग-युग के अनुसार बराबर और आप से आप बरता जाया करता है। यह किन्हीं पूर्वजों से लेकर उनकी संतानों तक उत्तरोत्तर बिना किसी प्रत्यक्ष आदेश वा विधान के चला करता है। मानव-समाज का कोई सदस्य भी ऐसी परंपरा द्वारा लगभग उसी प्रकार प्रेरित होता चलता है जिस प्रकार अन्य प्राणियों में से कोई जीव अपनी सहज-वृत्ति द्वारा संचालित हुआ करता है और उसकी ऐसी चेष्टाएँ उसके स्वभाव का अंग तक बन जाती हैं। दोनों में केवल इतना ही अन्तर दीख पड़ता है कि मानवीय व्यवहार में जो कुछ लचीलापन आ जाता है अथवा, मनुष्य की ज्ञान-वृद्धि के रूप में जो कुछ उसकी उन्नति हो जाया करती है वे दोनों ही इस बात पर निर्भर हैं कि उसे अपनी अधिकांश कार्य-पद्धतियों के लिए प्रायः शिक्षा लेनी पड़ती है तथा कभी-कभी उसका अभ्यास तक करना पड़ता है और

केवल कुछ ही ऐसी शेष रह जाती हैं जिनका रूप 'सहज-वृत्ति' का हुआ करता है। परंपरा द्वारा एक विशेष प्रकार के उद्देश्य का संकेत मिलता है, एक विशिष्ट मनोवृत्ति बन जाती है और तदनुसार ही उसमें क्रियाशीलता भी आती है।

इसके विपरीत 'प्रयोग' के विषय में भी हमारा ऐसा कथन करना कभी उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। इस शब्द का व्यवहार हम उस अनुष्टान, आयोजन अथवा कार्य-पद्धति के लिए करते हैं जिसमें परंपरागत प्रक्रियाओं से कुछ न कुछ भिन्नता पायी जाती है और जिसके द्वारा हम किसी नवीन परिणाम की आशा भी किया करते हैं। 'प्रयोग', परंपरा जैसे किसी नियम का अर्थ नहीं व्यक्त करता, प्रत्युत यह वैसे नियम को स्थापित करने का कोई नूतन यत्न मात्र ही कहा जा सकता है। ऐसे प्रयोग की दशा में हम किसी नवीन दृष्टिकोण से देखते जान पड़ते हैं, किसी नये साधन का उपयोग करते हैं तथा किसी ऐसी शैली को भी काम में लाते हैं जो कभी प्रयुक्त नहीं हुई रहती और जो इसी कारण प्रायः सर्वथा नवीन-सी प्रतीत होती है। एक प्रयोगशील साहित्य रच-यिता उस विशेष नयापन का पता लगा लेना चाहता है जो मानव-जीवन के अन्तर्गत हमारी परिस्थितियों में परिवर्तन आ जाने के कारण उत्पन्न हो गया रहता है अथवा वह अधिकतर उसके किसी ऐसे पक्ष या पहलू पर ही अपनी दृष्टि डाला करता है जो उसकी समझ में, तब तक अपनाये गए न होने के कारण नवीन जान पड़ता है। इस प्रकार साहित्य की रचना के सम्बंध में उपर्युक्त प्रश्नों के उठ जाने पर हम उनका समाधान यों कर सकते हैं जिससे इस बात का निर्णय हो जाय कि यह कहाँ तक अपने दीर्घकालीन एवं क्रियागत आदर्शों के अनुगमन करने में समर्थ है अथवा किस कोटि तक उसे किसी नवीनता को अप-नाना पड़ा है। इसी के आधार पर हम उसकी वर्तमान प्रगति के विषय में भी अपना कोई मत प्रकट कर सकते हैं।

साहित्य की रचना के सम्बंध में विचार करते समय हमारा ध्यान उक्त 'प्रगति' शब्द के वास्तविक रूप की ओर भी चला जा सकता है। इस शब्द का व्युत्पत्ति मूलक अर्थ (प्र+गम्+क्तिन् के अनुसार) उस उत्कृष्ट गति का ही हो सकता है जो किसी के विकास को भी सूचित करती हो। तदनुसार, प्रगति से तात्पर्य उस प्रकृष्ट गति का ही होगा जो साधारण गति के उच्च कोटि की रहा करती है तथा जिसका स्वरूप किसी गतिशील पदार्थ का न केवल गतिमान बनकर आगे बढ़ना, अपितु अपने भीतर न्यूनाधिक परिवर्तनों के होते हुए भी, उनके अनुसार उसका क्रमशः विकसित होना प्रकट करता है। परन्तु ऐसा करते समय कभी-कभी हमें इस बात का भ्रम हो जा सकता है कि इस प्रगति का संचार किसी ठीक सीधी रेखा में ही बढ़ने का अर्थ न रखता हो जो संभवतः तथ्य से दूर होगा। मानव-जीवन अथवा मानवीय संस्कृति के क्रमिक विकास पर दृष्टिपात करने वाले अनेक मनीषियों का कहना है कि ऐसी प्रगति की दिशा ठीक सीधी न होकर किंचित् वक्र अथवा चक्राकार तक भी हो जाया करती है। यह उसकी परंपरा को आगे ले जाते समय उसके मार्ग में प्रायः कोई न कोई मोड़ ला देती है जिसका सम्यक् रूप से अर्थ न समझ सकने वाले उसका ठीक मूल्यांकन नहीं कर पाते। इसी कारण उनके सामने अनेक समस्याएँ भी आ खड़ी होती हैं। वास्तव में ऐसे विशिष्ट मोड़ ही वैसे स्थल भी हो सकते है,जहाँ पर साहित्य-रचना के विषय में किसी 'प्रयोग' की संभावना की जा सकती है। मानव-जीवन और साहित्य के अत्यन्त घनिष्ट सम्बंध रहने के कारण एक वाले प्रगति परक नियम ही दूसरे की सार्थकता भी सिद्ध कर सकते हैं।

साहित्य में परंपरा के महत्व को स्वीकार करना उसके अन्तर्गत किसी रूढ़िवादिता को प्रश्रय देना भी नहीं कहा जा सकता। 'परंपरा' शब्द वस्तुतः किसी उत्तरोत्तर विकसित होते जाने वाले प्रवाह का द्योतक है, जहाँ रूढ़िवादिता में वह बात नहीं दीख पड़ती। रूढ़िवादिता कभी परिवर्तन

का समर्थक नहीं हो सकती और न, इसी कारण, उसमें कभी किसी प्रकार के विकास की संभावना हो सकती है। परंपरा की सरिता जहाँ आगे बढ़ते समय सदा विभिन्न स्रोतों के जल को आत्मसात् कर लेने की उदारता प्रकट कर सकती है, वहाँ रूढ़िवादिता की नहर अपने दोनों बँधे किनारे के भीतर प्रवाहित होने में ही संतुष्ट रहती है। इसमें नवीनता के प्रति कोई आकर्षण नहीं रहा करता और न यह इसी कारण, कभी-कभी स्फूर्ति-दायक सजीवता का गुण ही प्रकट कर सकती है। जो काव्य-रूढ़ियाँ साहित्य के प्रवाह का साथ दिया करती हैं उन्हें भी जल-प्रवाह में पड़े प्रस्तर खंडों की भाँति अपने डीलडौल में कुछ-न-कुछ परिवर्तन ला देना पड़ता है, क्योंकि उनका कोई प्रयोग तभी उपयुक्त हो पाता है जब उनकी संगति बैठ पाती है। कोई भी काव्य-रूढ़ि अपने पूर्ण रूप में ही चिरन्तन काल तक ताजी बन कर नहीं रह सकती। उसे या तो अपने धर्म का न्यूनाधिक त्याग करके आवश्यक परिवर्तन स्वीकार करना पड़ सकता है अथवा आगे चल कर, कभी उसे हास्यास्पद वा उपेक्षणीय तक बन जाना पड़ता है जिसके अनेक उदाहरण हमें आजकल रची जाने वाली बहुत से हिन्दी एवं उर्दू की कविताओं में प्रयुक्त और परंपरागत काव्य-रूढ़ियों में भी मिल सकते हैं। साहित्य में किये जाने वाले 'प्रयोग' का काम अधिकतर ऐसी रूढ़ियों के प्रति पूर्ण उपेक्षा प्रदर्शित कर उनकी जगह किसी-न-किसी प्रकार की नवीनता लाने का भी रहा करता है जिससे एक ओर जहाँ मूल परंपरा की श्रीवृद्धि में कमी नहीं आ पाती, वहाँ दूसरी ओर उसे क्रमिक विकास में सहायता भी मिल जाती है।

परंपरा की ही भाँति एक 'प्रवृत्ति' शब्द भी है जिसका व्यवहार प्रायः साहित्यिक चर्चा करते समय कर दिया जाता है। 'प्रवृत्ति' को भी साधारणतः प्रवाह अथवा बहाव का भाव प्रकट करने के लिए प्रयुक्त करते हैं जिस कारण, यह शब्द 'परंपरा' के साथ बहुत कुछ समानता रख सकता है। इसी से हम ऐसे प्रसंगों में, विकासमान साहित्य में

निहित प्रवृत्तियों का भी उल्लेख किया करते हैं। 'प्रवृत्ति' शब्द उस दशा में साहित्यिकों के किसी विषय की ओर लक्षित होने वाले मन के 'झुकाव' अथवा 'लगाव' को भी सूचित करता है। इस प्रकार परंपरा द्वारा निर्दिष्ट होने वाला 'प्रवाह', जहाँ अपने बराबर चलने वाले वा गतिशील कार्य की ओर संकेत करता है, वहाँ प्रवृत्ति वाले प्रवाह में हम किसी दिशा-विशेष के प्रति लक्ष्य रखने वाली गति का 'गुण' भी पा लेते हैं। परंपरा शब्द जहाँ किसी नियम के अनुकूल प्रवाहित की गई पद्धति वा कार्य-शैली की ओर इंगित कर सकता है, वहाँ पर 'प्रवृत्ति' शब्द ऐसे कार्य के उस ध्येय का पता दे सकता है जिसके निमित्त उसका आयोजन किया गया होगा अथवा जिसकी सिद्धि की इसके द्वारा कोई-न-कोई सूचना भी मिल जाती है। अतएव सारी बातों पर ध्यान रखते हुए यह भी कहा जा सकता है कि परंपरा से जहाँ पर कार्यगत व्यापक एवं सातत्य सूचक भाव प्रकट होता है, वहाँ प्रवृत्ति से दृष्टिगत अपेक्षाकृत सीमित और परिचायक अर्थ का पता चलता है और इसी कारण, यह किसी प्रयोग का भी पर्याय बन सकता है। परन्तु साहित्य का इतिहास लिखते समय अथवा साहित्यिक समीक्षा के संदर्भ में हम कभी-कभी एक से दूसरे का काम भी ले लिया करते हैं। इस प्रकार 'प्रवृत्ति', 'परंपरा' के विकास में एक महत्वपूर्ण मोड़ मात्र न रहकर उसका पूरा स्थान ग्रहण करने लग जाती है।

साहित्य की 'परंपरा' उसकी गतिशीलता को प्रकट कर सकती है, किन्तु इसके द्वारा उसमें होते जाने वाले किसी विकास का भी पता नहीं चलता और न यही सूचित हो पाता है कि उसमें किसी प्रगति के भी लक्षण पाये जाते हैं वा नहीं। ऐसी परंपरा की गति प्रायः मंद भी पड़ जा सकती है और यह भी असंभव नहीं कि इसके प्रवाह में आती जाने वाली शिथिलता उसे किसी समय गतिहीन भी कर दे। साहित्य में 'प्रयोग' की आवश्यकता अधिकतर उसके जीवन में इस प्रकार की स्थिति आ

जाने पर ही पड़ा करती है। वस्तुस्थिति का अनुभव हो जाने पर 'प्रयोग', परंपरा की त्रुटियों को परखने तथा उन्हें दूर करते हुए नयी व्यवस्था का सूत्रपात्र करने लग जाता है और 'प्रवृत्ति' उसे अवसरोचित सुझाव देने तथा इस प्रकार उसका मार्ग-प्रदर्शन करने की ओर अग्रसर हो पड़ती है। तदनुसार, न केवल परंपरा में लक्षित होने वाले अभावों की पूर्ति ही हो जाती है, अपितु इसके द्वारा अपनी स्थिति सँभाल कर तथा नयी चेतना के कारण स्फूर्ति ग्रहण कर वह आगे बढ़ने के लिए भी सक्षम हो जाती है। वैसी स्थिति आ जाने पर ही, हमें किसी साहित्य की प्रगति का भी बोध होता है।

यदि साहित्य किसी समाज की अनुभूतियों और आकांक्षाओं को सचमुच प्रतिबिंबित एवं सुरक्षित करना चाहता है तो उसे वैसे समाज वाले प्रगतिशील जीवन के साथ बराबर पैर-से-पैर मिला कर ही चलना होगा। उसे अपने भाव, भाषा, रचना-शैली अथवा काव्य-रूपों के अन्तर्गत समयोचित परिवर्तन करने पड़ सकते हैं। इस प्रकार उसे अपनी उन परंपराओं में पूरी क्रान्ति भी ला देनी पड़ सकती है जिन्होंने उसका साथ चिरकाल तक दिया है तथा जो किसी समय उसके साक्षात् मेरुदंड का काम करती जान पड़ी थी। कुछ लोगों की यह धारणा कि वर्तमान विज्ञान-प्रधान मानव-जीवन के किसी दिन, कला और साहित्य की दृष्टि से सर्वथा अर्थहीन हो जाने की आशंका है, केवल उसी दशा में यह विचारणीय हो सकती है, जब हम अपने पूर्व निर्धारित साहित्यिक मूल्यों को नितान्त शाश्वत मान बैठें। परन्तु उस दशा में हम 'साहित्य' शब्द का मूल अभिप्राय ही खो दे सकते हैं। इस प्रकार उस अपूर्व आनन्द से वंचित भी रह सकते हैं जो इसकी वास्तविक देन है।

साहित्य में नैतिकता का प्रश्न

साहित्य में नैतिकता के प्रश्न पर विचार करने के पहले हमें नैतिकता के स्वरूप को समझ लेना है। "नैतिकता वैयक्तिक चीज़ है, सामाजिक नहीं" यह एक ऐसा वक्तव्य है जिस पर विचार करने के पहले हमारा ध्यान स्वभावतः इसमें प्रयुक्त कतिपय शब्दों की ओर चला जाता है और उनमें 'नैतिकता', 'वैयक्तिक' एवं सामाजिक मुख्य हैं। हमें ऐसा लगता है कि जब तक इन शब्दों का वास्तविक अभिप्राय समझ न लिया जाय तब तक उस कथन पर कोई ठीक निर्णय नहीं किया जा सकता। इसके सिवाय हम यह भी देखते हैं कि इन तीनों शब्दों में से भी कम-से-कम 'वैयक्तिक' एवं 'सामाजिक' का प्रयोग बहुधा एक ही संदर्भ में किया जाता है। इन दोनों के मूल शब्द क्रमशः 'व्यक्ति' एवं 'समाज' द्वारा सूचित होने वाली धारणाओं का पारस्परिक सम्बंध निर्धारित करते समय, प्रायः विवाद भी खड़ा हो जाता है। व्यक्ति को अधिक महत्व देने वाले जहाँ अपनी दृष्टि के अनुसार समाज की उपेक्षा करने लग जाते हैं, वहाँ समाज को ही सब कुछ समझने वाले व्यक्ति को, उसी प्रकार इसके आगे महत्वहीन ठहराना चाहते हैं जिस कारण, दोनों के बीच कोई सामंजस्य नहीं बैठ पाता। ऐसी दशा में जब हमारे उन दोनों से सम्बद्ध 'नैतिकता' के स्वरूप तथा उनके बीच उसके समुचित स्थान के विषय में निर्णय करने का प्रश्न आ जाता है तो हमारे लिए यह और भी आवश्यक है कि हम, सर्वप्रथम, व्यक्ति और समाज के सम्बंध से ही परिचित हो लें।

व्यक्ति को हम साधारणतः समाज की एक इकाई माना करते हैं

जिस कारण प्रायः इस प्रकार भी कह दिया करते हैं कि समाज वास्तव में, विभिन्न व्यक्तियों का एक समुदाय मात्र है। परन्तु हमारे इतना कह देने से ही इन दोनों के बीच पाये जाने वाले वास्तविक सम्बंध का भी पूरा स्पष्टीकरण नहीं हो पाता। प्रश्न उठता है कि क्या एक व्यक्ति अपने समाज की कोई वैसी ही इकाई है जैसी किसी ईंट के बने मकान के सम्बंध में उसमें जोड़ी गई अनेक ईंटों की हुआ करती है ? यदि ऐसा हो तो फिर व्यक्ति का महत्व केवल इतना ही रह जाता है कि वह अन्य अनेक वैसे ही व्यक्तियों के साथ अपने समाज को एक सामुदायिक रूप प्रदान करने में काम आ जाया करता है, उसका कोई उतना पृथक् महत्व भी नहीं है। इसके विपरीत, यदि हम समाज को किसी एक लम्बी-सी शृंखला के रूप में देखें और व्यक्ति को उसकी कड़ी वाली इकाई का स्थान देना चाहें तो हमें ऐसा लगता है कि यहाँ पर व्यक्ति का ही महत्व समाज से कहीं अधिक बढ़ जाया करता है। इसका कारण यह है कि किसी भी शृंखला की शक्ति उसकी एक साधारण कड़ी से अधिक नहीं मानी जा सकती। इसी कारण, उसका महत्व ही कभी किसी वैसी कड़ी से अधिक ठहराया जा सकता है। इस प्रकार इस सम्बंध में, हमारे सामने इन दोनों में से कोई भी दृष्टान्त पूर्णतः उपयुक्त नहीं ठहरता और न इसके आधार पर हम व्यक्ति और समाज के बीच ठीक निर्णय कर सकते हैं।

इन दोनों दृष्टान्तों में से किसी का उपयोग करते समय हमें एक यह कमी भी दीख पड़ती है कि ईंट तथा कड़ी जहाँ अचेतन पदार्थ हैं, वहाँ व्यक्ति सचेतन है और इसीलिए समाज को भी सचेतन व्यक्तियों का ही समुदाय कहा जा सकता है। फलतः ईंट और मकान अथवा कड़ी तथा शृंखला के बीच जहाँ उनके किसी पारस्परिक व्यवहार का भी प्रश्न नहीं उठा करता, वहाँ पर व्यक्ति एवं समाज के बीच होने वाली ऐसी प्रक्रिया का अनुभव हमें बराबर हुआ करता है। यह एक ऐसी विशेषता है जिसकी

हम अपने प्रस्तुत विषय के संदर्भ में कभी उपेक्षा नहीं कर सकते। इस कारण कुछ लोग यह भी सुझाव देते हैं कि व्यक्ति एवं समाज को क्रमशः किसी एक घटक तथा वैसे ही घटकों से निर्मित किसी अंग-विशेष की स्थितियों में रखकर उनके पारस्परिक सम्बंध पर विचार करना चाहिए। घटक सचेतन पदार्थ हैं और ये वैसे पारस्परिक व्यवहार के लिए सचेष्ट भी पाये जाते हैं। इसी प्रकार इस सम्बंध में हमारे सामने कभी-कभी किसी मधुमक्खी और उसके छत्ते वाली मधुमक्खियों के समूह का एक अन्य दृष्टान्त भी रखा जाता है जिसमें मधुमक्खी वाली इकाई न केवल सचेतन, प्रत्युत सजीव भी पायी जाती है। यहाँ पर हमें एक यह बात भी दीख पड़ती है कि मधु-छत्ते वाली सारी मक्खियाँ किसी एक सामान्य उद्देश्य से काम करती भी प्रतीत होती हैं जिस विशेषता के आधार पर हमें अपने प्रस्तुत विषय को समझने में कदाचित् कुछ और भी सहायता मिल सकती है।

परन्तु यदि हम कुछ ध्यान देकर विचार करने लगें तो हमें इन दृष्टान्तों के आधार पर भी अपना कार्य सिद्ध होता नहीं दीखता। जहाँ तक सचेतन घटक वाली बात है, हमें वहाँ पर ऐसा लगता है कि वहाँ का सारा व्यवहार वस्तुतः किसी प्राकृतिक नियम द्वारा आप-से-आप संचालित हो रहा है और वहाँ पर सभी कुछ अनिवार्य-सा भी जान पड़ता है। इसी प्रकार मधुमक्खी वाले दृष्टान्त में भी हम यही पाते हैं कि यहाँ का भी प्रत्येक व्यवहार किसी नैसर्गिक प्रवृत्ति द्वारा परिचालित होता है जो संभवतः उस प्राकृतिक नियम का ही एक विकसित रूप समझी जा सकती है। इसके विपरीत व्यक्ति एवं समाज वाले प्रश्न के विषय में हमें केवल इतनी ही बातें नहीं लक्षित होती। यहाँ का इकाई समझा जाने वाला व्यक्ति अधिकतर तर्क, विवेक एवं संकल्प से भी काम लेता जान पड़ता है जिसकी उक्त दृष्टान्त में कोई संभावना ही नहीं है। इसके सिवाय यहाँ का इकाई व्यक्ति निरन्तर कोरे सामाजिक उद्देश्य द्वारा ही प्रेरित होकर

काम नहीं करता। उसकी प्रकृति प्रायः अपने को समाज से पृथक् तक मानकर काम करने की हो जाया करती है और वह तदनुसार कभी-कभी स्वार्थवश इसकी सामूहिक भलाई के विरुद्ध तक आचरण करता हुआ पाया जाता है। ऐसा क्यों होता है ? यह एक मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक प्रश्न है जिसके मूल तक जाने का प्रयास करना यहाँ आवश्यक नहीं है। हमें यहाँ पर केवल व्यक्ति एवं समाज इन दोनों के पारस्परिक सम्बंध पर आश्रित नैतिकता के विषय में ही निश्चय करना अभीष्ट है।

अतएव, यदि हम चाहें तो, यहाँ पर इतना अवश्य समझ ले सकते हैं कि आखिर समाज के भीतर इस व्यक्ति सम्बंधी भावना का उदय एवं विकास ही किस प्रकार हो जाया करता है। जीव-विज्ञान के मंतव्यानुसार पता चलता है कि जिस समय एक मनुष्य अपने को सर्वप्रथम, किसी शिशु के रूप में पाता है उस समय उसे कदाचित् अपने वातावरण से पृथक् होने का बोध नहीं रहा करता। उसकी धारणाएँ, चाहे वे अविकसित ही क्यों न हों, सब कुछ के साथ एक रूप होने जैसी कोटि की ही रहा करती है, अपने को कोई विशेषत्व प्रदान करने की नहीं रहा करती। अपने लिए औरों से भिन्न होने की भावना उसके पीछे उदय लेती है और फिर वह क्रमशः बढ़ती एवं दृढ़तर होती चली जाती है। इस प्रकार उसके कुछ समझदार बन जाने पर उसके भीतर एक वैयक्तिक चेतना तक का निर्माण हो जाता है जिसके द्वारा उसे अपने-पराये का बोध होने लगता है और वह व्यक्ति विशेष रूप में आ जाता है। परन्तु यह सभी कुछ उसे अपने सामाजिक वातावरण में रह कर ही प्राप्त होता है तथा यह फलतः उसी की देन भी कहला सकता है। इस कारण शिशु की कोटि से आगे बढ़कर किशोर एवं युवक आदि की दशाओं तक पहुँचने पर भी व्यक्ति कभी अपने को अपने समाज से सर्वथा भिन्न नहीं बना पाता, प्रत्युत हम यहाँ तक देखते हैं कि उसके भीतर अपनी वैयक्तिक चेतना के साथ-साथ कोई एक सामाजिक चेतना भी समानान्तर निर्मित होती चली

जा रही है जिसके फलस्वरूप वह अपने को केवल व्यक्ति ही नहीं, अपितु अपने समाज का अभिन्न अंग भी समझा करता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ईंट और कड़ी अथवा घटक एवं मधुमक्खी वाली इकाइयों के भी आधार पर निर्मित समुदायों तथा व्यक्ति की इकाई पर आश्रित मानव समाज के बीच स्वरूपगत महान अन्तर है जिस कारण उनमें से कोई भी दृष्टान्त हमारे प्रस्तुत प्रश्न पर विचार करते समय इसके लिए उपयुक्त नहीं ठहरता। वास्तव में वैयक्तिक चेतना एवं सामाजिक चेतना का सह-अस्तित्व तथा उनके अन्योन्याश्रय पर आधारित भावों की अनुभूति ही ऐसी बातें हैं जिनके कारण नैतिकता जैसे गुणों का आविर्भाव हुआ करता है तथा उन्हें कोई महत्व भी दिया जा सकता है। सामाजिक चेतना एवं वैयक्तिक चेतना का अनेक व्यक्तियों के भीतर प्रायः एक समान और एक साथ काम करने तथा प्रत्येक व्यक्ति का एक दूसरे के संपर्क में आकर उससे प्रभावित होने की संभावना ही वस्तुतः पूरे नैतिक दायित्व की जड़ है। यदि हम किसी एक व्यक्ति को किसी एक ऐसे वृत्त का केन्द्र मान लें जिसकी परिधि का काम समाज करता हो और यदि इसके साथ ही, हम यह भी मान लें कि उन केन्द्र एवं परिधि के बीच बहुत से ऐसे अन्य वृत्त भी वर्तमान हैं जो केन्द्र की ओर से क्रमशः उस परिधि की ओर आकार में एक दूसरे से अधिक बढ़ते चले गए हैं और ये उस व्यक्ति से सम्बद्ध उन विभिन्न वर्गों के द्योतक हैं जिनके साथ उसका पारस्परिक व्यवहार रहा करता है तो हमें पता चल जायगा कि जैसे-जैसे ये सारे वर्ग वृत्त अपने व्यक्ति-केन्द्र की ओर आकार में कम होते गए हैं वैसे ही वैसे उनके प्रति इसका नैतिक दायित्व अधिकाधिक गहरा होता गया है। इसी के अनुसार जैसे-जैसे वे परिधि की ओर बढ़ते चले गए हैं वैसे-वैसे वह अधिकाधिक झीना भी पड़ता चला गया है।

इस विषय पर विशेष रूप से विचार करने वाले के अनुसार ऐसे

केन्द्र-स्थित व्यक्ति के लिए उसका निकटतम तथा इसी कारण, सबसे छोटा भी वर्ग-वृत्त उसके कुटुम्ब वा परिवार का हो सकता है। उसके आगे क्रमशः एक दूसरे से विस्तृत वे वर्ग-वृत्त आ सकते हैं जो उस व्यक्ति के धर्म, राष्ट्र, देश अथवा अन्य ऐसे दूसरे कारणों से निर्मित हो गए रहते हैं। उन सभी के साथ अपने लगाव के न्यूनाधिक घनिष्ठ होने के कारण, यह उनके प्रति प्रायः उसी अनुपात में नैतिक दायित्व का अनुभव भी किया करता है। तदनुसार, मानव जाति के उस अंग के प्रति जिसके साथ उसका कोई भी संपर्क नहीं, वह इस प्रकार के भावों को प्रश्रय नहीं दे पाता। इसी प्रकार हम उसके स्वयं अपने लिए किये गए किसी कार्य को भी किसी ऐसे दायित्व द्वारा अनुप्राणित नहीं ठहरा सकते, क्योंकि मानव जाति के किसी अज्ञात वा अपरिचित अंग के साथ यदि उसके निकट संपर्क का अभाव कहा जा सकता है तो, इसी प्रकार हम यह भी कह सकते हैं कि अपने लिए की गई विविध चेष्टाओं की दशा में वैसे संपर्क का कोई आधार तक भी नहीं रहा करता। केन्द्र एवं वृत्त दृष्टान्त के विचार से देखने पर जहाँ एक ओर परिधि अत्यन्त विस्तृत अथवा उसकी पहुँच के बाहर जैसी तक हो जा सकती है, वहाँ दूसरी ओर ऐसी परिधि का निर्माण तक भी नहीं हो पाता अकेला केन्द्र आत्मनिष्ठ-सा बन जाया करता है। नैतिक दायित्व किसके प्रति किसका हो, इसका यहाँ पर कोई प्रश्न ही स्वभावतः नहीं उठ पाता।

इस प्रकार नैतिकता का क्षेत्र मानव जाति के उस अंग तक ही सीमित समझा जा सकता है जो अज्ञात नहीं है तथा जिसका इकाई समझे जाने योग्य व्यक्तियों के एक दूसरे के साथ कभी संपर्क एवं संसर्ग में आपने और व्यवहार करने की संभावना हो सकती है। यही सीमित क्षेत्र वस्तुतः 'समाज' की संज्ञा द्वारा अभिहित भी किया जा सकता है। अज्ञात एवं अपरिचित मानव वर्ग की कल्पना कर उसके प्रति भी हम अपना सौहार्द-

भाव प्रकट कर सकते हैं। यदि हम चाहें तो किसी विश्व-प्रेम की भावना द्वारा संचालित होकर समस्त जीवधारियों अथवा प्राणी-वर्ग को भी अपनी उदार आत्मीयता के रंग में रँग दे सकते हैं। परन्तु इस प्रकार की भावनाओं को हम विशुद्ध नैतिकता की कोटि में न लाकर उन्हें या तो मानवता अथवा विश्वबन्धुत्व का नाम दे दिया करते हैं। नैतिकता शब्द 'नीति' शब्द से बनता है जिसका धात्वर्थ आगे ले जाना अथवा पथ-प्रदर्शन करना होता है। जो इसी कारण, अपने शाब्दिक अर्थ के अनुसार आगे ले जाने वाली अथवा पथ-प्रदर्शन करने वाली ही कही जा सकती है। परन्तु यदि हम नीति शब्द का प्रयोग व्यावहारिक और पारिभाषिक रूप में करते हैं तो यह उतने व्यापक अर्थ को नहीं सूचित करता। ऐसी दशा में यह साधारणतः उन सर्वमान्य नियमों तक ही सीमित हो जाया करता है जो सामाजिक व्यवहारों के अन्तर्गत विधि-निषेध मूलक बनकर काम देते हैं। इस प्रकार के नियमों के रूप देश, काल एवं पात्र के अनुसार यत्किंचित् भिन्न भी हो सकते हैं, किंतु इससे उनकी मान्यता में प्रायः कमी नहीं आती। इसके सिवाय हम उन्हें अपने प्रयोग-क्षेत्रों के अनुसार बराबर धार्मिक, ठेठ व्यावहारिक वा वैधानिक जैसे वर्गों में भी ला दिया करते हैं। परन्तु जहाँ तक नीति शब्द के आधार पर निर्मित नैतिकता की अर्थ-बोधकता का प्रश्न है वह अधिकतर इनमें से प्रथम दो पर ही निर्भर रहा करती है और तीसरे जैसे वर्गों पर विचार करते समय प्रायः उसके प्रति उपेक्षा तक प्रदर्शित की जाने लगती है।

निष्कर्ष यह कि सारी प्रासंगिक बातों पर विचार कर लेने पर तथ्य यही जान पड़ता है कि नैतिकता की भावना वस्तुतः ऐसे समाज में ही उदय होती और निश्चित रूप ग्रहण करती है जो व्यक्ति के लिए संसर्ग-सुलभ रहा करता है। उसके भीतर वाला प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे को जान सकता है तथा उसके साथ किसी न किसी प्रकार का पारस्परिक

व्यवहार भी कर सकता है। यों तो इसे हम किसी एक व्यक्ति का गुण भी ठहरा सकते हैं और कह सकते हैं यह उसमें नैतिक बल एवं नैतिक साहस जैसे गुणों की भाँति पायी जाती है और उसके कारण ऐसे व्यक्ति को विशेष महत्व भी प्रदान किया जाता है। परन्तु इस प्रसंग में हम यह भी नहीं भूल सकते कि यह गुण उस व्यक्ति में केवल इसीलिए आ सका है कि उसने अपने समाज के भीतर रहकर तथा इसके साथ ही उसके सर्वथा अनुकूल भी बनकर काम किया है और वस्तुतः समाज द्वारा प्राप्त स्वाभाविक अनुमोदन ही उसका दृढ़ आधार भी है। अतएव नैतिकता को हम किसी एक व्यक्ति के प्रसंग में उसका 'सामाजिक गुण' भी कह सकते हैं। किसी व्यक्ति के लिए यह संभव नहीं कि वह अपने समाज के प्रति पूर्ण उपेक्षा का भाव रखता हुआ भी नैतिक गुणों का अधिकारी बन सके। ये गुण उसे अपने समाज में रहकर आचरण करने पर ही उपलब्ध होते हैं और ये ही उसके चरित्र-बल की भी वृद्धि करते हैं। इसीलिए नैतिकता को कोरी 'वैयक्तिक-चीज़' ठहरा कर इसे 'अ-सामाजिक' भी समझ लेना सत्य से दूर जाना कहा जा सकता है। नैतिकता वास्तव में, किसी व्यक्ति के भीतर काम करने वाली उसकी सामाजिक चेतना का परिणाम है और इसीलिए उसका सामाजिक गुण है। यह उसकी कोई 'वैयक्तिक चीज' नहीं जिसे उसने अपने समाज से पृथक् रहकर उपार्जित किया हो।

अतएव नैतिकता का जो स्थान एवं महत्व मनुष्य के जीवन में है वही उसके द्वारा निर्मित साहित्य में भी है। दोनों का ही लक्ष्य स्वस्थ मानव-जीवन है जिसमें मानवी प्रवृत्तियों की यथार्थता के नाम पर उनकी विकृतियों को प्रश्रय अथवा बढ़ावा देना, कदापि अभीष्ट नहीं हो सकता ; क्योंकि स्वस्थ समाज के लिए सभी दृष्टियों से स्वस्थ मानव का अस्तित्व वांछनीय है। एक ओर जहाँ परिस्थिति एवं वातावरण का अपना महत्व है, वहाँ दूसरी ओर चरित्र-बल की दृढ़ता भी

अविच्छिन्न है। एक के बिना दूसरा एकांगी तथा अधूरा है। समय-समय पर जीवन-सम्बंधी मूल्यों के परिवर्तन के बीच उन पर विचार करते समय हमारा ध्यान ठेठ मूल्य तक ही सीमित न होकर मानव और उसके समाज पर भी केन्द्रित रहना चाहिए और शोषण चाहे किसी प्रकार का क्यों न हो साहित्य में अनैतिक ठहराया जाना चाहिए।



काव्य में वातावरण और व्यक्तित्व

(१)

फ्रांस के प्रसिद्ध साहित्य-समालोचक सैंत ब्यव (सं० १८६१-१६२६) का कहना था कि समालोचक को अपने समालोच्य ग्रंथ के रचयिता के विषय में कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेने पर ही उसकी समालोचना आरम्भ करनी चाहिए। वह स्वयं भी इसी नियम का अनुसरण करता था। समालोच्य ग्रंथ के लेखक की मानसिक, नैतिक वा शारीरिक स्थिति की वह सर्वप्रथम, कुछ न कुछ जानकारी पा लेता और तब कहीं उसमें हाथ लगाता तथा अपनी उपलब्ध सामग्री के आधार पर एक ऐसा मनोहर चित्र खींच देता जो किसी पाठक के हृदय-पटल पर सदा के लिए अंकित हो जाता। अन्य समालोचकों के विषय में चाहे यह बात चरितार्थ हो वा न हो, किन्तु सैंत ब्यव इसके लिए साहित्य-संसार में विख्यात है कि समालोचक अपनी उँगली जिस मार्ग की ओर उठाता है उस ओर प्रत्येक पाठक को जाना पड़ता है। सफल समालोचना एक प्रकार का चश्मा है जिसके रंग के अनुसार ही बहुधा किसी ग्रंथ की अच्छाई वा बुराई का पता चल पाता है। सैंत ब्यव अपने उक्त नियम को ग्रंथकार के 'मानसिक विकास का प्राकृतिक इतिहास'[1] कहा करता था। परन्तु इससे उसका तात्पर्य यह नहीं था कि समालोचक को अपने ग्रंथकार के जन्म से लेकर उसके मरण पर्यन्त की बातों का पूरा विवरण जानकर ही अपनी लेखनी

१ The Natural History of Minds, Essays by Sainte Beuve, Introduction, p. 16

उठानी चाहिए और न यही कि उसे मनोविज्ञान के नियमानुसार पहले उसके मस्तिष्क एवं हृदय की परीक्षा कर लेनी चाहिए। अपने समकालीन ग्रंथकारों की पुस्तकों पर कुछ लिखते समय वह उनके साथ भेजे गए पत्रादि वाले समाधानों पर स्वयं भी विशेष ध्यान नहीं देता था। उनके उत्तर में बहुधा लिख देता की समालोचक को आलोच्य ग्रंथ से ही काम रहता है, ग्रंथकार से नहीं। उसके लिए ग्रंथकर्त्ता अथवा उसकी परिस्थिति के विषय में केवल उतना ही ज्ञान आवश्यक है जितना कि उस ग्रंथ-विशेष से प्रत्यक्ष सम्बंध हो। इसी प्रकार ऑस्कर वाइल्ड पर अपना आलोचनात्मक निबन्ध लिखते समय एक अंग्रेज लेखक ने किसी ग्रंथकार की कृति को उस पिटारी के सदृश माना है जिसकी ताली उसके मालिक के ही साथ खो गई हो। इसी कारण, जिसके खोलने के लिए अथवा जिसके भीतर की वस्तुओं को थोड़ा-बहुत जानने के लिए उक्त मालिक द्वारा छोड़े हुए कतिपय संकेतों का सहारा लेना पड़ता हो। भिन्न-भिन्न लेखकों वा कवियों के जीवन की घटनाएँ कभी-कभी, इसी कारण, बहुत रोचक एवं महत्वपूर्ण बन जाती हैं और प्राचीन ग्रंथकारों के जीवन-वृत्तों की खोज भी अधिकतर उपर्युक्त उद्देश्य से ही की जाती है।

फिर भी, उपर्युक्त नियम साहित्य के सभी अंगों पर ठीक एक ही प्रकार लागू नहीं हुआ करता। दार्शनिक, वैज्ञानिक, ऐतिहासिक वा निबन्ध-विषयक ग्रंथों पर उनके रचयिताओं की परिस्थिति का प्रभाव उतना गहरा नहीं पड़ता जितना कि उन कल्पना-प्रधान रचनाओं पर दीखता है जो काव्य की श्रेणी में गिनी जाती हैं। प्रथम वर्ग की पुस्तकों की रचना का उद्देश्य क्रमशः सत्य का अन्वेषण, प्राकृतिक नियमों का स्पष्टीकरण, विगत घटनाओं का वर्णन अथवा इसी प्रकार की विविध बातों का निरूपण आदि हुआ करता है। नवीन किन्तु दूसरी कोटि की पुस्तकों के विषय में यह बात नहीं है, यहाँ पर एक नितान्त नवीन सृष्टि देखने को मिलती

है जिसके निर्माता का प्रभाव उसके प्रत्येक अंग पर लक्षित होता है। इस विचार से पहले ढंग की रचनाओं को जहाँ हम स्वाभाविक कहेंगे, वहाँ दूसरे वर्ग वाली कृत्रिम श्रेणी की ठहरायी जायेगी, क्योंकि इसकी प्रत्येक पंक्ति का आधार बहुधा भावना-सृष्ट वा काल्पनिक ही प्रतीत होगा। इतिहास एवं काव्य की तुलना करते समय इसीलिए अरस्तू ने बतलाया है कि पहले का उद्देश्य जहाँ किसी अतीत घटना का हाल कह देना है, वहाँ दूसरे का काम अघटित घटनाओं के साध्य होने वा न होने की ओर संकेत करना है। इसका क्षेत्र इतिहास वाले से कहीं अधिक विस्तृत है और, इसी कारण, कविता सार्वजनीन भी समझी जाती है।

वास्तव में, सच्ची कविता का क्षेत्र, काल अथवा समाज परिमित नहीं हुआ करता वह सबके लिए एक-सी होती है। काव्य के वास्तविक तत्व को किसी प्रकार की भी परिस्थिति का प्रभाव स्पर्श नहीं करता। यह वह शक्ति है जिसका अस्तित्व दूसरों के हृदयों में 'रस' का संचार कर देता है और उन्हें अपना लेता है। हमारे साहित्य-शास्त्रज्ञों के अनुसार भाषा यदि कविता कामिनी का शरीर है और अलंकार उसके आभूषण है तो यह रसोत्पादिका शक्ति उसकी आत्मा है। अतएव आत्मारूपी रस जहाँ सर्वत्र एक समान व्याप्त होगा, वहाँ उसके बाहरी परिच्छदरूपी वातावरणादि के प्रभाव देश-कालानुसार परिवर्तित होते रहेंगे और उनकी छाप उसके विषय और वर्णन-शैली पर दृष्टिगोचर होगी। दो भिन्न-भिन्न देशों अथवा युगों में की गई कविताओं में, इसी कारण, भाषा-भेद के अतिरिक्त अन्य प्रकार का भी अन्तर दीख पड़ता है। आज से कई वर्ष पहले संभवतः सं० १९६७ विक्रमाब्द में——बालकृष्ण भट्ट ने उस समय प्रयाग से निकलने वाली 'मर्यादा' पत्रिका के प्रथम अंक में ही 'जुदी-जुदी भाषाओं की कविता के जुदे-जुदे ढंग' शीर्षक एक छोटा-सा लेख लिखा था जिसमें उन्होंने कविताओं की विभिन्नता सम्बंधी इस पहलू पर अच्छा प्रकाश डाला था। यह बात कुछ कम कौतूहल की नहीं है कि मानव-प्रकृति के

निसर्गतः एक होने पर भी लगभग एक ही भाव को व्यक्त करने के लिए विभिन्न कवियों को अपने-अपने वातावरणानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के आश्रय ग्रहण करने पड़ते हैं। वे इनसे इतने परिवेष्ठित और प्रभावित रहते हैं कि बिना ऐसा किये उनका काम ही नहीं चलता। सच्चे काव्य की परीक्षा की दृष्टि से ये बातें गौण समझी जा सकती हैं, किन्तु इनकी चर्चा में मनोरंजन की पूरी सामग्री वर्तमान है।

कविता को उपर्युक्त प्रकार से प्रभावित करने वाली बातों में उसके रचयिता के देश वा निवास-स्थान का जलवायु, वहाँ के प्राकृतिक दृश्य और सामाजिक वातावरण आदि का विचार किया जा सकता है, जहाँ उसके जीवन-काल वा युग की दृष्टि से उनमें उसके समकालीन वृत्तों, आन्दोलनों तथा राजनीतिक परिस्थितियों जैसी विशेषताओं का समावेश किया जा सकता है। इस प्रकार की भिन्नता, यदि हम चाहें तो, भारतवर्ष जैसे एक विशाल देश की विविध प्रान्तीय भाषा-भाषियों की कविताओं में भी पा सकते हैं, किन्तु उस दशा में कुछ अधिक सूक्ष्मता के साथ छानबीन करनी पड़ेगी। इस विषय की बातें दो ऐसे दूरस्थ देशों की कविताओं द्वारा अधिक सरलता के साथ स्पष्ट की जा सकती है जिनके निवासियों के वातावरण एवं जीवन में महान अन्तर हो। इसलिए यहाँ पर हम ऐसे ही दो विभिन्न देशों के काव्यों के उदाहरण देने की चेष्टा करेंगे। इन दोनों में से एक शीत-प्रधान टापू है, जहाँ के कार्यशील पुरुष आधुनिक सभ्यता के अनुयायी हैं और दूसरा एक उष्ण-प्रधान प्रायद्वीप है, जहाँ के विचारशील पुरुष प्राचीन सभ्यता के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करते हैं। पहले की भाषा का साहित्य दूसरे वाले की अपेक्षा कहीं अधिक पूर्ण और समृद्ध है, किन्तु यहाँ पर केवल उनकी कविताओं की ही तुलना होगी। ये दोनों देश क्रमशः इंगलैंड और भारत होंगे और उनकी भाषाएँ क्रमशः अंग्रेजी एवं हिन्दी होंगी।

(२)

हिन्दी एवं अंग्रेजी कविताओं की तुलना जलवायु के प्रभावानुसार करते समय जान पड़ेगा कि ग्रीष्म-प्रधान भारत का हिन्दी कवि जहाँ उष्णता की अपेक्षा शीतलता को अधिक रुचिकर समझता है, वहाँ इंगलैंड के ठंडे वातावरण में पला हुआ अंग्रेजी का कवि शीतलता की अपेक्षा गर्मी को ही अधिक सुखकर मानता है। उदाहरण के लिए एक हिन्दी कवि अपने प्रिय मित्र के साथ मिलने के आनन्द को व्यक्त करते समय, जहाँ कहता है—

कीजिय चंदन लेप वरु, हिम कपूर संग लाय।
हियो न तदपि जुड़ाय त्यों, ज्यों प्रिय अंक लगाय॥

—स्वरचित

वहाँ अंग्रेजी का कवि प्रायः ठीक वैसे ही भाव को

O for that warmest heart of thine
The form that tender lovely grace,
Thy hearty warming long embrace,
O for the blissful days of mine.

—Self Composed

अर्थात् हाय, मुझे तेरे उस हृदय की सुध आ रही है जो मेरे लिए सदा उष्ण से उष्ण रहा करता था, उस रूप की जो मृदुल और मनोमोहक लावण्य से परिपूर्ण था और उस गर्म (सस्नेह) गाढ़ालिंगन का भी स्मरण हो आता है जो निर्व्याज होता था। हाय, वे मेरे आनन्दमय दिवस अब कहाँ आते हैं! कहकर प्रकट किया करता है। इसी प्रकार पति परा-यणा स्त्री के भाव को जहाँ हिन्दी कवि उक्त नियम के अनुसार—

पाँव पखारि बैठि तरु छाँही। करिहौं बायु मुदित मनमाहीं॥

—तुलसीदास

छाकहु बैठि दुअरिआ, मींजहु पाय ;
पिय तन पेखि गरमियां, बिजन डुलाय ।

—रहीम

द्वारा व्यक्त करता हुआ उसका अपने प्रियतम की तापजनित थकावट दूर करने के लिए पंखे का झलना दिखलाता है, वहाँ अंग्रेजी का कवि प्रायः वैसे ही प्रसंग में किन्हीं मृत ग्रामीणों के विषय में कल्पना करता हुआ कहता है—

For them no more the blazing hearth shall burn
Or busy housewife ply her evening care,

—*Thomas Gray*

अर्थात् अब इन्हें कभी (घर लौटने पर थकावट और ठंडक दूर करने की) जलती हुई अंगीठी नहीं मिला करेगी और न इनकी गृहिणी उसके निकट इनके स्वागत की योजना में प्रवृत्त ही दीख पड़ेगी। इससे शीत-प्रधान देश के अग्नि-सेवन का महत्व सूचित होता है।

इसके सिवाय भारतवर्ष का हिन्दी कवि जहाँ विरह-दशा का वर्णन करते समय उसके प्रभाव को तापजनक बतलाता है, वहाँ अंग्रेजी कवि उसी विरह-दशा का बोध बर्फ़ जैसी ठंडी वस्तु के उल्लेख द्वारा कराना चाहता है। हिन्दी कवि जहाँ कहता है—

बिरह अगिनि तनु तूल समीरा। स्वाँस जरै छन मांह सरीरा।
नयन स्त्रवै जल निज हित लागी। जरै न पाव देह बिरहागी।

—तुलसीदास

अर्थात् विरहाग्नि द्वारा रुई के समान शरीर श्वास की हवा लगकर क्षणमात्र में ही जल जाता, किन्तु इतने में ही उधर नेत्रों से अश्रु-प्रवाह

भी होने लगता है जिससे उसका जलकर भस्म हो जाना पूर्ण नहीं हो पाता। परन्तु अंग्रेजी का कवि अपने प्रिय मित्र को अपनी विरह-दशा का परिचय देता हुआ इसके विपरीत बातें करता है—

Speak! though this soft warm heart once free to hold
A thousand tender pleasures, thine and mine
Be left more desolute, more dreary cold
Than a forsaken bird's nest filled with snow
Mid its own bush of leafless eglantine
Speak that my torturing doubts their end may know
—Wordsworth

अर्थात् अजी बोलो! यद्यपि मेरा यह सुकुमार और उष्ण हृदय जिसमें कभी सहस्रों मेरी और तुम्हारी सुखद स्मृतियाँ भरी रहा करती थीं, आज उस त्यक्त घोंसले से भी अधिक सूना, निरानन्द और अनुष्ण हो गया है जो जंगली जवाकुसुम की झाड़ियों में पड़ा हुआ, बर्फ़ से भर जाया करता है। एक बार बोलो! जिससे मेरे उद्वेगजनक सन्देह निर्मूल हो जायँ जिससे स्पष्ट है कि वह विरह के प्रभाव को घोर शीत की कठोरता का उत्पादक मानता है और इसीलिए अपने हृदय को हिम-खंडों से भरे घोंसले के सदृश भी बतलाता है।

प्राकृतिक दृश्यों के प्रसंग के विषय में भी हम इसी प्रकार की बातें देखते हैं। जिस कवि के समक्ष जो सामग्री अधिकता के साथ उपलब्ध होती जान पड़ेगी उसी के आधार पर वह अपने मनोगत भावों को स्वभावतः प्रकट करेगा। इंगलैंड एक द्वीप है जिसके चारों ओर समुद्र लहराया करता

है। इस कारण, अंग्रेजी की कविता में जितना समुद्र और जहाजों का वर्णन दीख पड़ेगा, उतना भारतीय भाषा हिन्दी की कविता में नहीं पाया जा सकता। अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि शेक्सपियर के कई नाटकों में तथा बायरन, शेली एवं कोलरिज आदि की कविताओं में समुद्र को जितना महत्व-पूर्ण स्थान प्राप्त है, उतना उसे हिन्दी के—

जैसे उड़ि जहाज को पच्छी फिरि जहाज पर आवै।

कहने वाले सूरदास अथवा रावण द्वारा—

बाँध्यो जलनिधि नीरनिधि, जलधि सिन्धु वारीस।
सत्य तोयनिधि कंपति, उदधि पयोधि नदीस॥

कहलाकर उसे विज्ञिप्त बना देने वाले तुलसीदास की कौन कहे, सिंहल द्वीप के वर्णन से कथा का आरम्भ कर 'बोहित,' 'सातसमुद्र' आदि की चर्चा करने वाले 'पद्मावत' के कवि जायसी ने भी नहीं दिया है। इन कवियों में सर्वत्र पौराणिकता ही झलकती है। हाँ, नदियों, पर्वतों एवं कुंजों तथा उद्यानों के उल्लेखों और वर्णनों में हिन्दी कवि अंग्रेजी कवियों से पीछे नहीं कहे जा सकते। प्राचीन ऋषियों का निवास-स्थान होने के कारण वन का महत्व इनके यहाँ कुछ अधिक है, किन्तु झीलों के सम्बंध में यह बात उतनी स्पष्ट न होकर सरों अथवा तड़ागों के विषय में विशेष रूप से सिद्ध की जा सकती है। अंग्रेजी के कवियों ने झीलों को अधिक अपनाया है और वर्ड्सवर्थ जैसे दो-तीन कवि तो इनके संपर्क के कारण झील के कवि (Lake Poets) तक कहलाकर प्रसिद्ध हैं। इन सभी उपर्युक्त बातों के उदाहरण देने का यहाँ स्थान नहीं है।

इसी प्रकार फल, फूल, पशु, पक्षी आदि का उल्लेख करने में उक्त दोनों वर्ग के कवियों की अपनी-अपनी विशेषता है। अंग्रेजी के कवि प्राकृतिक दृश्यों के नग्न और स्वाभाविक वर्णनों के लिए अधिक प्रसिद्ध हैं, जहाँ हिन्दी कवि अधिकतर परंपरागत ऋतु-वर्णन की परिपाटी का ही

अनुसरण करना अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं। वसंत अथवा शरद ऋतुओं में जो-जो फूल इंगलैंड में देखने को मिलते हैं वे उसी समय भारतवर्ष में नहीं पाये जाते और जो उक्त समय में यहाँ दीख पड़ेंगे उनका वहाँ पर बाहुल्य नहीं है। वहाँ तो कई फूलों का विकास यहाँ के ग्रीष्म ऋतु में हुआ करता है। उनके लिए मई का महीना एप्रिल से किसी प्रकार भी कम नहीं, प्रत्युत कई बातों में इससे बढ़कर भी कहा जा सकता है। अतएव किसी मास विशेष के सन्दर्भ में दोनों वर्ग के कवि एक ही जाति के फूलों का वर्णन नहीं किया करते। अंग्रेजी के कवि जिन फूलों का अधिक आश्रय लिया करते हैं उनमें Daisy, Rose, Daffodil, Violet आदि प्रमुख कहे जा सकते हैं। Daisy का सौन्दर्य उन्हें इतना प्रियकर जान पड़ता है कि वे उसके नाम की व्युत्पत्ति, Day's eye (दिन की आँख) कह कर किया करते हैं और आदि कवि चॉसर से लेकर आज तक इसका सम्मान बराबर होता आया है। प्रकृति-पुजारी वर्ड्सवर्थ ने इसे कवि का दुलारा (poets' darling) प्रकृति का कृपापात्र(Nature's Favourite) आदि कई नामों से पुकारा है और इसकी प्रशंसा में कुछ पंक्तियाँ भी लिखी हैं। स्कॉच कवि बर्न्स ने अपने हल से इसके कुचले जाने पर ऐसे प्रभावपूर्ण शब्दों में अपना शोक प्रकट किया है कि उसकी वह कविता सदा के लिए अमर हो गई है। यह फूल एक ही साथ सादगी, सौन्दर्य, नम्रता और मिलनसारी का बोधक समझा जाता है। इसी प्रकार Rose (गुलाब) अपने रंग विशेष के लिए Daffodil (डेफोडिल) अपने सुनहलेपन के लिए Violet (पाटल) अपने सुहावने रंग और कोमलता के लिए तथा Little और Lesser Calendine (कैलेंडाइन) अपने आनन्द एवं मोहकता प्रदान करने वाले रूपों के के लिए प्रसिद्ध हैं। इधर हिन्दी कवियों के लिए सबसे प्रिय पुष्प कमल है, इसके रंग और सुकुमारता पर वे इतने मुग्ध हैं कि वे एक ही स्वर में—

नवकंज लोचन, कंज मुख कर कंज पद कंजारुणं

जैसी पंक्तियाँ कह डालते हैं और कभी-कभी इसके नीले होने पर भी इसे 'नील सरोरुह स्याम' के नाते नहीं छोड़ना चाहते। इस फूल का प्रसंग बहुत प्राचीन संस्कृत-काव्य से ही दीख पड़ता आया है। सूर्य के साथ इसका वर्णन कर मैत्री-भाव दरसाने के लिए, चन्द्रमा के साथ लाकर शत्रुत्व का बोध कराने के लिए अथवा कभी-कभी शरद ऋतु की निराली छटा का विशद वर्णन करने के लिए कमल के फूल का उल्लेख किया गया बहुत अधिक पाया जाता है। इसके सिवाय टेसू, पलाश, और कचनार अपने-अपने लाल रंग के लिए, चंपक पीत वर्ण के लिए, कास और कपास श्वेत वर्ण के लिए, केतकी अपने काँटों के लिए, आम की मंजरी कामोद्दीपन के लिए, मालती कुंजों के लिए तथा कुमुद, कदंब, कनेर आदि अपने-अपने गुण विशेष के लिए प्रसिद्ध हैं। फलों के वर्णन हिन्दी कविता में अंग्रेजी कविता से कदाचित् कम नहीं पाये जाते। धान के खेतों का भी यहाँ एक अपनी विशेषता है। बड़े-बड़े वृक्षों का प्रसंग दोनों वर्गों के कवि धीरता, महत्ता, दानशीलता, शान्तिप्रियता अथवा दयालुता के लिए लाते हैं। यद्यपि इनमें से प्रत्येक के लिए अपने-अपने देश का ही वृक्ष विशेष उन गुणों को प्रकट करता हुआ जान पड़ता है।

इसके सिवाय अंग्रेजी का कवि, जिस प्रकार, काइंयापन के लिए पशुओं में लोमड़ी को चुनता है, उसी प्रकार हिन्दी कवि उस गुण के लिए गरम देशों में अधिकतर पाये जाने वाले शृगाल को ही बहुत दिनों से उपयुक्त समझता आया है। शीत-प्रधान देश वाले अंग्रेजी कवियों ने भेड़ के बच्चे को निर्दोष अथवा निरुपद्रवी का प्रतीक माना है, जहाँ हिन्दी कवि हिन्दुओं की गोमाता को प्रधानता देते हैं। इन कवियों के लिए, इसी प्रकार, स्वामि-भक्त होने पर भी कुत्ता—

खल परिहरिय श्वान की नांई।—तुलसीदास

जैसे स्थलों पर हेय ठहराया गया है, किन्तु अंग्रेजी के कवि ने सदा उसे एक प्रिय सहचर के रूप में ही स्वीकार किया है। एक प्रसिद्ध अंग्रेजी कवि

ने अपने कुत्ते के मरने पर शोकाकुल होकर करुण-रस से भरी बहुत अच्छी पंक्तियाँ लिखी हैं। हाथी का वर्णन अंग्रेजी काव्य में, कदाचित्, कहीं ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलेगा, जहाँ हिन्दी में इस पशु के उल्लेख अनेक प्रकार से किये गए दीख पड़ेंगे। मतवाले और दीर्घकाय पुरुषों का वर्णन करते समय इसका प्रसंग विशेष रूप से लाया जाता है, किन्तु इसकी चाल की उपमा कामिनियों की निराली गति के लिए अधिक उपयुक्त बतलायी जाती है। हिन्दी कवि की दृष्टि में बैल, इसी प्रकार अपने कंधे के लिए, सिंह अभिमान भरी 'ठवनि' के लिए, सिंहिनी अपनी कटि के लिए तथा मृग अपनी सुकुमारता एवं बड़े-बड़े नेत्रों के लिए आदर्शरूप हैं, किन्तु अंग्रेजी कविता में इनकी ओर इस विचार से ध्यान दिया गया नहीं जान पड़ता। सिंह को अंग्रेजी कवि ने, बहुधा साहस का बोधक और भेड़िए को क्रूरता का द्योतक माना है। बकरी का बच्चा दोनों के यहाँ अपनी दीनता के लिए प्रसिद्ध है और बिल्ली का बच्चा, इसी प्रकार अपने खिलाड़ीपन की विशेषता रखता है।

पक्षियों के विषय में भी, इसी प्रकार, दोनों वर्गों के कवि अपनी-अपनी प्रसिद्धियों के पृथक्-पृथक् परिचय दिया करते हैं। अंग्रेजी कवियों के लिए Skylark (संभवतः भरद्वाज) नामक पक्षी बहुत प्रिय है और शेली एवं वर्ड्सवर्थ ने इस पर उत्तम कविताएँ की है। वर्ड्सवर्थ ने जहाँ इसे स्वर्गीय गवैया (Ethereal minstrel) तथा आकाश का तीर्थ-यात्री (Pilgrim of the sky) कहा है, वहाँ शेली ने इसकी तुलना कवि, कुलीन युवती, जुगुनू तथा छिपे हुए प्रस्फुटित गुलाब के फूल के साथ की है। इस कवि के लिए उसका संगीत का स्वर अन्य सभी मधुर शब्दों से कहीं बढ़ कर जान पड़ता है। परन्तु हिन्दी कविता में इस पक्षी का पता नहीं चलता। हिन्दी कवियों के लिए हंस विशेष रूप से आदरणीय है और यहाँ उसके कई गुणों को आदर्शवत् स्वीकार किया गया है। पपीहा इन कवियों का ध्यान अपनी मधुर पुकार 'पी कहाँ, पी

कहाँ' के द्वारा आकृष्ट करता हुआ किसी विरहिणी का स्मरण दिलाता है, परन्तु अंग्रेजी के कवि इस पक्षी का स्थान कदाचित् बुलबुल (Nightingale) को देते हुए जान पड़ते हैं ; जैसे—

Less Philomel will deign a song
In lar 'sweetest saddest plight
Smoothing the rugged brow of Night

× × × ×

sweet bird that shunnest the noise of
folly, most musical most melancholy.
John milton

अर्थात् जबतक फिलामेल (एक ग्रीक युवती का नाम जिसका प्रयोग कवि प्रसिद्धि के अनुसार बुलबुल के लिए किया जाता है) अपना एक गीत सुना कर अपने सुखप्रद, किन्तु करुणाजनक भावों को व्यक्त नहीं कर देती और इस प्रकार उस रात्रि-काल की भयंकरता नष्ट नहीं हो पाती ।— वह मनोहर पक्षी जिसे मूर्खतापूर्ण कोलाहल से घृणा रहा करती है और जो अत्यन्त संगीत-कुशल एवं अत्यन्त विषादपूर्ण भी है। इस पक्षी के प्रति Keats (कीट्स) जैसे एकाध अन्य कवियों ने विशेष ध्यान दिया है। अंग्रेजी कवि के लिए, इसी प्रकार, सबसे बली पक्षी उकाब Eagle समझा जाता है जो संभवतः हिन्दी कवियों के गरुण स्थानापन्न है। परन्तु Owl (उल्लू) उनके यहाँ उतना अशुभ नहीं समझा जाता, जितना हिन्दी कवि उसे वैसा मानते जान पड़ते हैं। हाँ, कोयल को दोनों वर्ग वाले कवि गाने वाली गौरैया को कूजने वाली तथा कपोत को शान्तिप्रिय समझते प्रतीत होते हैं। अंग्रेजी कवियों के यहाँ चक्रवाक जैसा कोई पक्षी नहीं दिखलायी पड़ता जो उनके काव्य में वियोग की स्थिति का परिचय देता हो और न वहाँ पर कोई चकोर-सा ही जान पड़ता है जो दृढ़ प्रेम

और हठधर्मिता के आवेश में जलते अंगारे तक को चुन लेता हो। परन्तु हिन्दी काव्य में इनका बाहुल्य है।

(३)

भौगोलिक स्थिति एवं प्राकृतिक दृश्यादि के समान ही कवि के सामाजिक वातावरण का भी महत्व है और इसका प्रभाव उनकी रचनाओं में पाये जाने वाले सौन्दर्य-सम्बंधी मानदंड, सामाजिक प्रथा तथा नैतिक आचार-व्यवहार सम्बंधी बातों के विषय में अधिक स्पष्ट रूप में दीख पड़ता है। उदाहरण के लिए हिन्दी का कवि अपनी नायिका के लिए सबसे उत्तम रंग सोने या चंपे का मानता है और उसे वह गेहुँए रंग का स्वीकार करता तथा कभी-कभी 'श्यामा' तक कह देता है। किन्तु अंग्रेजी के कवि के लिए सबसे उत्तम रंग श्वेत है जो उसके शीत-प्रधान देश के भी अनुकूल है। इसी प्रकार, हिन्दी का कवि सदा से केशों की कृष्णता को ही अधिक पसन्द करता आया है और वह उन्हें अधिक से अधिक काला देखना चाहता है; जैसे—

चिक्कन कुटिल अलक अवली छवि, कहि न जाय शोभा अनूपवर।
बाल भुअंगिनि निकरि मनहुँ मिलि, रही घेरि रस जानि सुधाकर॥

—तुलसीदास

अथवा—

भाल विशाल तिलक झलकाहीं।
कच विलोकि अलि अवलि लजाहीं॥ —तुलसीदास

और इस प्रकार की सैकड़ों पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं। यदि नायिका की पीठ के सुनहले रंग तथा उसकी वेणी के कालेपन का उदाहरण एक ही स्थल पर देखना हो तो हमें वह गंग कवि की पंक्ति—

मनो कंचन के कदली दल पै, अति साँवरी सांपिनि सोइ रही।
में मिल सकता है। परन्तु अंग्रेजी के कवि को कदाचित् इस प्रकार का मानदंड स्वीकृत नहीं और वह ऐसे केशों को अधिकतर सुनहले या धुँधले रंगों में ही देखना चाहता है; जैसे—

Thy silver locks once auburn bright
Are still more lovely in my sight
Than golden beams of orient light
My Mary! —*W. Cooper*

अर्थात् ऐ मेरी मेरी! तेरे पांडुवर्ण के चमकीले केश आज चाँदी की भाँति श्वेत हो जाने पर भी मेरी दृष्टि में पूर्व की ओर से निकलने वाली सुनहली किरणों के समान ही सुहावने जान पड़ते हैं।

अथवा—

Her eyes are stars twilight fair
Like twilight, too, her dusky hair.
—*Words worth*

अर्थात् उसकी आँखें संध्या के तारों की भाँति सुन्दर थी और उसके बाल भी संध्या के ही समान धुँधले रंग के थे।

उपर्युक्त पंक्तियों के कवि ने आँखों की उपमा संध्या-कालीन तारिकाओं से देकर नेत्रों के लिए अपने मनोनीत रंग की ओर भी संकेत कर दिया है। फिर भी अंग्रेजी के कवि को नायिका की नीली आँखें ही अधिक पसन्द हैं; जैसे—

It was not her golden ringlets bright;
Her lips like roses wet with dews,

Her heavy bosom lily white—
It was her eyes so bomie blue.

अर्थात् उसके सुनहले, चमकीले तथा घुँघराले बाल ओस की बूँदों से भीगे हुए गुलाब के फूलों के समान, उसके होंट नलिनी के समान उसके श्वेत एवं गंभीर स्तनदेश हमें उतना स्मरण नहीं दिलाते, जितना उसकी सुन्दर नीली आँखें। परन्तु हिन्दी कवि, इसके विपरीत काली-काली एवं चपल तथा कभी-कभी लाल तक आँखों को पसन्द करता जान पड़ता है ; जैसे—

कारे, कजरारे, अमल, पानिप ढारे पै न।
मतवारे, प्यारे, चपल तुअ ढुरवारे नैन॥

—स्वरचित

अथवा—

रतनारी थारी आँखड़ियाँ।
प्रेम छकी रसबस अलसानी, जाणि कमल की पाँखड़ियाँ।
सुन्दर रूप लुभाई गतिमति, हौं भइ ज्यूँ मधु माँखड़ियाँ॥

—मीराँबाई

नेत्रों के उक्त रंगादि की ही भाँति हिन्दी कवि नायिका की गर्दन की बनावट के विषय में भी अंग्रेजी कवि से मतभेद रखता है। हिन्दी कवियों के अनुसार, सुन्दर गर्दन का आदर्श कपोत पक्षी के समान होना चाहिए ; जैसे—

जब धरनीन कपोत सब, जरे देखि ग्रिव भेष।
तब उन पापिनि कंठ विधि, दियो पाप की रेख॥

—श्रीधर पाठक

किन्तु अंग्रेजी के कवि को इतने से सन्तोष होता नहीं दीखता और वह ऐसी ग्रीवा को किसी ऊँचे कंगूरे के समान देखना चाहता है ; जैसे—

Her neck is like a stately tower,
Where love himself imprisoned his, etc.

—*T. Lodge*

अर्थात् उसकी गर्दन एक ऊँची मीनार के समान है जिसमें स्वयं प्रेम बन्दी बनकर पड़ा हुआ है। इसी प्रकार, मानव शरीर के अन्य अंगों के सौन्दर्यादि के सम्बंध में भी अनेक उदाहरण दोनों भाषाओं के काव्यों से दिये जा सकते हैं।

इंगलैंड एवं भारतवर्ष की स्त्री पुरुष-सम्बंध विषयक विभिन्नता की चर्चा प्रायः की जाती है। भारत में स्त्रियाँ सदा से पुरुष की सहधर्मिणी तथा अर्द्धाङ्गिनी तक समझी जाती रही हैं और इनके विषय में "यत्रनार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः" भी कहा गया है। किन्तु, सब कुछ होते हुए भी हिन्दू समाज इनका बहुधा निरादर ही करता आया है जिसके उदाहरण हिन्दी कविता में भी मिलते हैं। विरक्ति की दशा का वर्णन करते समय जो कहा गया है वह तो है ही, साधारण ढंग से भी इनके विषय में कम नहीं लिखा गया है। हिन्दी के श्रेष्ठ कवि तुलसीदास ने, प्रसंगवश, इनके हृदयों में आठ अवगुणों का रहना बतलाया है और उन आठों को क्रमशः गिनाकर इस बात को सिद्ध करने की चेष्टा की है। इनके सिवाय एक अन्य प्रसंग में उन्होंने इन्हें शूद्रों, गँवारों, पशुओं और ढोल तक के साथ "ताड़न के अधिकारी" वर्ग में स्थान दिया है। पाश्चात्य देशों के समाज में भी स्त्रियों का आदर सदा नहीं रहता आया है और इस बात के अनेक प्रमाण हैं मिल साहब के 'Subjection of women' ग्रंथ से दिये जा सकते जो विशेषकर स्त्री समाज की पराधीनता पर ही लिखा गया है। किन्तु फिर भी अंग्रेज कवि इन्हें उचित स्थान देते हैं; जैसे—

Woman is the lesser man and all thy
passions matched with mine,

Are as moonlight unto sunlight,
and as water unto wine,

—*Tennyson*

अर्थात् स्त्री तो पुरुषप्राय ही हुआ करती है। तेरे और मेरे मनोविकारों में उतना ही अन्तर होगा, जितना चाँदनी और सूर्य की प्रभा में अथवा जल तथा मदिरा में।

दोनों भाषाओं के कवियों ने कहीं-कहीं प्रसंगवश आदर्श नारियों के कर्तव्यों की भी चर्चा की है। पति-परायण भार्या के चरित्र पर कुछ प्रकाश डालने वाली पंक्तियाँ इसके पहले भी उद्धृत की जा चुकी हैं। यहाँ पर उत्तम स्त्रियों के कर्तव्य-सम्बंधी विषय की चर्चा कुछ और भी विस्तार के साथ की जाती है। इसके ऊँचे आदर्श का पता देता हुआ एक हिन्दी कवि एक स्त्री से कहलाता है—

जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिन तियहिं तरनि ते ताते॥
तन, धन, धाम, धरनि, पुर, राजू। पिय विहीन सब सोक समाजू॥

× × ×

जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसहि नाथ पुरुष बिनु नारी॥
मैं सुकुमारि नाथ वन जोगू। तुमहिं उचित तप मोकहं भोगू॥

—तुलसीदास

अथवा, जैसा कि एक अन्य कवि ने भी कहलाया है—

हम नारियों को पति बिना गति दूसरी होती नहीं।

—मैथिलीशरण गुप्त

पति-भक्ति या पति-परायणता के ऐसे उज्वल दृष्टान्त, वस्तुतः कम देखने को मिलते हैं। परन्तु अंग्रेजी का कवि भी बहुत ऊँचे आदर्श रख सकता है। ऊपर उद्धृत की गई चौपाइयाँ तुलसीदास के प्रसिद्ध ग्रंथ 'रामचरित-

मानस' से ली गई हैं और वे उस अवसर से सम्बद्ध हैं, जबकि सीता अपने पति रामचन्द्र के वन जाते समय उनके साथ जाने का आग्रह करती है और इसके औचित्य के समर्थन में पति-पत्नी विषयक घनिष्ट सम्बंध की स्वाभाविकता की दुहाई देती है। लगभग ठीक वैसे ही अवसर पर अंग्रेजी कवि शेक्सपियर के 'ओथेलो' नामक नाटक की नायिका डेस्डिमोना द्वारा कही गई कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार है—

That I did love the Moor to live with him
My downright violence and storm of fortune
May trumpet of the world my hearts subd-ued
Even to the very quality of my lord ;

× × × ×

So that, dear lords, if I be left my behind
A moth of peace and he go to the war
The rites for which I love him are bereft me
And I a heavy interim shall support by his dear absence.
Let me go with him.

—*Shakespeare*

अर्थात् मैं मूर (ओथेलो) के साथ रहने के लिए ही उसे प्यार करती आयी हूँ और यह मेरे प्रत्यक्ष दुःसाहस एवं मेरे प्रति किये गए उपहास आदि से भी स्पष्ट है। मेरा हृदय अपने स्वामी की अन्तरात्मा के हाथ बिक चुका है। × × × अतएव, हे विचारपति महाशयो ! यदि मैं यहाँ शान्ति का उपयोग करने के लिए रह जाती हूँ और वे समर-भूमि में चले जाते हैं तो उनकी अनुपस्थिति के कारण, मेरे लिए समय का काटना कठिन

हो जायगा और मेरे प्रेम का सारा उद्देश्य भी मिट्टी में मिल जायगा। कृपया मुझे उनके साथ जाने की आज्ञा दे दें।

'मानस' एवं 'ओथेलो' के ऊपर दिये गए उद्धरणों को पढ़ने पर उनके आदर्शों में एक विचित्र समानता लक्षित होती है और उन दोनों की एकाध बातें एक दूसरे की छाया-सी प्रतीत होने लगती हैं। किन्तु यह सादृश्य आगे तक नहीं निभ पाता। ओथेलो के कुछ कारणवश क्रुद्ध हो जाने पर वही डेस्डिमोना, हिन्दू महिलाओं की भाँति उसे अपने जन्मान्तर के पापों का परिणाम न समझती हुई फिर पुरुष जाति पर सन्देह-सी करने लग जाती है और अपनी दासी से कह बैठती है—

O, these men ! these men !
Dost thou in conscience think, tell me Emilia

That there be women do abuse their husband
In such gross kind

—Shakespeare

अर्थात् हाय पुरुष जाति ! (नृशंस) पुरुष जाति ! क्यों एमीलिया, कह तो सही, क्या तेरे अन्तःकरण में यह बात कभी आ सकती है कि कभी कोई स्त्री भी अपने पति के साथ इस प्रकार का बरताव करती होगी ! अन्यत्र एकाध स्थलों पर अपनी निर्दोषिता सिद्ध करती हुई भी, डेस्डिमोना केवल इस प्रकार की धारणाओं के ही कारण कुछ नीचे गिर जाती है। इतना ही नहीं, शेक्सपियर के एक दूसरे नाटक 'टेम्पेस्ट' की सीधी-सादी नायिका मिरांडा के मुँह से भी हमें वैसी ही बातें सुन पड़ती है ; जैसे—

Mir : Sweet lord you play me false
Fer : No, my dearest love
I would not for the world.

Mir : Yes, for a score of kingdoms you should wrangle
And I would call it fairplay.

—Shakespeare

अर्थात् मिरांडा : प्रियतम, तुम मेरे साथ अनुचित बरताव करते हो।
फर्डिनेंड : नहीं प्रिये, मैं संसार के उपलक्ष्य में भी ऐसा नहीं कर सकता।
मिरांडा : हाँ, हाँ, तुमतो ऐसा केवल एक कोड़ी राज्यों के पाने पर भी कर सकते हो और मुझे (यह सब तुम्हारी दृष्टि से) उचित ही दीखेगा।

इसी प्रकार इन दोनों भाषाओं के कवियों की रचनाओं में सामाजिक धारणाओं एवं परंपराओं की विभिन्नता भी दीखती है। उदाहरण के लिए मृत्यु-सम्बंधी साधारण उद्गार प्रकट करते हुए दोनों प्रायः एक समान कहते हैं ; जैसे—

इन्द्र भए धनपति भए, भए शत्रु के साल।
कलप जिए, तौऊ गए, अंत काल के गाल॥ —स्वरचित

तथा—

Death lays his icy hands on kings

—J. Sheily

अर्थात् काल अपने ठंडे हाथ प्रतापी राजाओं तक पर फेर दिया करता है।

परन्तु मृतकों की अन्तिम शव-क्रिया के सम्बंध में, सामाजिक प्रथानुसार, मतभेद होने के कारण उस बात को वे कभी-कभी नितान्त भिन्न ढंगों से कहते हुए भी दीख पड़ते हैं। शवदाह की प्रथा की ओर संकेत करता हुआ हिन्दी कवि जहाँ—

काया पाय बहुत सुख कीन्हों, नित उठि मलि-मलि धोई।
सो तन छिया छार ह्वै जैहै, नाम न लैहै कोई॥

जैसा कोई संत कवि कहता है, वहाँ अंग्रेजी कवि—

The paths of glory lead but to the grave
—T. Gray

अर्थात् कितनी भी कीर्त्ति कमाइये, अंत में क़ब्र की ओर ही प्रस्थान करना पड़ेगा, कहकर अपने समाज की मुर्दे गाड़ने वाली प्रथा की ओर निर्देश करता है।

(४)

काव्य-रचयिता की जीवन-कालीन विशेषता के उदाहरण साधारणतः उसकी भाषा के साहित्य के ऐतिहासिक विभागों में पाये जाते हैं। किसी भी साहित्य के इतिहास का वर्णन करते समय उसे युगों वा कालों में विभाजित किया जाता है और उस विभाजन का आधार कोई विशेष प्रवृत्ति रहा करती है जो किसी ऐसे युग वा काल की अपूर्व घटनाओं वा आन्दोलनों का परिणाम होती है। अंग्रेजी साहित्य के इतिहास में उसके पुनर्जागरण युग के पहले की कविता उस काल की रचनाओं से अनेक बातों में भिन्न है। प्रायः वही बात हम हिन्दी-साहित्य के इतिहास में भी स्वामी रामानन्दादि के समय से पूर्व की रचनाओं तथा उस काल के विविध साम्प्रदायिक आन्दोलनों द्वारा प्रभावित कवियों की कृतियों की तुलना करने पर भी पाते हैं। दोनों साहित्य अपने-अपने उक्त युगों में एक प्रकार के पुनरुत्थान द्वारा सजीव हो उठे थे। नये-नये विचारों की लहरों ने साहित्य-संसार में हलचल मचाकर कविता के भाव एवं भाषा दोनों में विचित्र परिवर्तन ला दिये थे। वह समय, संयोगवश, दोनों जगह अच्छी शासन-प्रणाली द्वारा उत्पन्न शान्ति-काल भी सिद्ध हुआ, जिस-

कारण प्रतिभाशाली कवियों को अपने रचना-कार्य को सुचारु रूप से सम्पन्न करने का उपयुक्त अवसर मिल गया। फलतः इंगलैंड की रानी एलिज़बेथ एवं भारत के अकबर बादशाह के सुशासनों के प्रभाव में क्रमशः अंग्रेजी तथा हिन्दी भाषा के महाकवि शेक्सपियर और तुलसीदास दीख पड़े। पहले ने जहाँ उपर्युक्त पुनर्जागरण युग के परिणामस्वरूप नाटक-साहित्य एवं गीति-काव्य के आदर्श रखे वहाँ, दूसरे ने धार्मिक काव्य की सुदृढ़ नींव के आधार पर ऐसी कृतियों का निर्माण किया जो सदा के लिए अमर हो गईं।

दोनों साहित्यों के उपर्युक्त युग बहुधा 'स्वर्णयुग' कहलाकर पुकारे जाते हैं और उनके लिए गर्व प्रकट किया जाता है। किन्तु उन दोनों के अनन्तर जिन साहित्यिक युगों का प्रादुर्भाव हुआ उन्हें उस कोटि में कभी नहीं रखा जाता। इंगलैंड के राजनीतिक और सामाजिक वातावरणानुसार वहाँ की कविता में गद्यात्मकता एवं नीरसता का बाहुल्य दीख पड़ा, जिस कारण उस समय के अधिकांश कवियों की रचनाएँ साधारण श्रेणी की मानी गईं। उसी प्रकार भारत के तात्कालीन हिन्दी कवियों में दरबारीपन एवं रूढ़िवादिता का भाव आ जाने के कारण, उनकी रचनाओं का युग भी कोरा रीति-काल कहलाकर हल्का पड़ गया। फिर इन दोनों भाषाओं के साहित्य के इतिहास में एक बार नवीन युगों का सूत्रपात हुआ। अंग्रेजी साहित्य का यह, युग के इतिहास Romantic Revival (रोमांटिक रिवाइवल) के नाम से विख्यात है जिसके प्रमुख कवि वर्ड्सवर्थ समझे जाते हैं और हिन्दी साहित्य वाले इस युग को उसके नायक भारतेन्दु के नाम पर 'भारतेन्दुयुग' नाम दिया जाता है। दोनों भाषाओं के काव्यों में, उनके विषय एवं वर्णन-शैली के विचार से, नितान्त नवीन चेतना काम करती हुई लक्षित होती है जिसके कारणों का पता हमें क्रमशः इंगलैंड एवं भारत के भीतर चलने वाले तात्कालीन आन्दोलनों में ही लग सकता है।

तात्पर्य यह कि किसी भी भाषा के साहित्य का रूप सदा स्थिर नहीं

रहा करता। उसमें समयानुसार परिवर्तन होते रहते हैं और इस बात के यथेष्ट उदाहरण उसके कवियों की रचनाओं में बराबर मिला करते हैं। समय की गति का प्रभाव उस भाषा को प्रयोग में लाने वाले व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न वातावरणों को अनुप्राणित कर देता है और वैसी परिस्थिति में पड़ जाने की दशा में कोई भी कवि उनकी विशेषताओं से अपने को बचा नहीं पाता।

यदि सूक्ष्म रूप से विचार किया जाय तो यह भी जान पड़ेगा कि इस प्रकार के प्रभाव किसी एक कवि की विभिन्न रचनाओं में भी दीख पड़ते हैं और उन्हीं के कारण इन्हें समयानुसार पहले वा पीछे की कृति बतलाया जाता है। कवियों की कौमारावस्था, उनकी प्रौढ़ावस्था तथा उनकी वृद्धावस्था की रचनाओं पर केवल मानसिक विकास की ही छाप नहीं रहा करती, प्रत्युत उन पर उन बातों का प्रभाव लक्षित होता है जिन वातावरणों में उनका निर्माण हुआ रहता है। उदाहरण के लिए किसी दीर्घजीवी कवि के जीवनकाल के प्रारंभिक दिनों की रचनाएँ जिस सामाजिक स्थिति की सूचना देती हैं उसका पता फिर उसकी वृद्धावस्था वाली कृतियों में प्रायः नहीं पाया जाता। इस काल तक अधिकतर कोई भिन्न प्रवृत्ति काम करती रहती है जिससे वह स्वभावतः प्रभावित हो जाता है और उसके कोई न कोई चिह्न उसकी रचनाओं में दिखलायी देने लगते हैं। हिन्दी के राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के प्रारम्भिक जीवन की रचनाएँ उनकी तरुणावस्था की राष्ट्रीय भावना वाली कविताओं के सदृश नहीं हैं और न उस काल के अन्तर लिखी गई उनकी छायावादी पंक्तियों में ही हमें उनके राष्ट्रीय भावों की पिछली प्रचुरता पायी जाती है। उनके सामाजिक वातावरण की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियाँ उनकी मनोदशा को अपने अनुकूल बनाती गईं जिसका उनकी कथन-शैली एवं भाव पर भी न्यूनाधिक प्रभाव पड़ा है।

व्यक्तित्व क्या है, समाज क्या है अथवा इन दोनों का पारस्परिक सम्बंध क्या है? व्यक्तित्व परिस्थिति का परिणाम है अथवा सारा इतिहास

ही कुछ महान् व्यक्तियों के जीवन-चरित्रों से अधिक नहीं कहा जा सकता ? ये प्रश्न ऐसे हैं जिनके उत्तर देने के लिए मनोविज्ञान, समाजशास्त्र और इतिहास के विशेषज्ञों ने अनेक बार यत्न किये हैं, किन्तु जिनके सम्बंध में उठने वाली विविध शंकाओं का समाधान निर्विवाद रूप से नहीं कर पाये हैं। यहाँ पर ऐसे प्रश्नों के छेड़ने अथवा उन पर गंभीर विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

कविता किसी व्यक्ति विशेष की रचना मात्र हुआ करती है, अतएव उस पर पड़ा हुआ किसी प्रकार का भी प्रभाव उसके कवि वा रचयिता पर पड़े हुए प्रभावों का ही परिचायक हो सकता है। कोई भी मनुष्य यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि मुझ पर अपने कुटुम्ब, अपनी शिक्षा, अपने अध्ययन, अपने मित्रगण तथा अपने प्राकृतिक परिवेष्टन का प्रभाव नहीं पड़ा है और न यह कि वह अपने युग की विशेषताओं से नितान्त अछूता है। वास्तव में, व्यक्तित्व इसी प्रकार के प्रभावों द्वारा निर्मित एक मानसिक प्रतीक विशेष के सिवाय और कुछ भी नहीं है और न इससे पृथक् उसके किसी अस्तित्व को मानने की आवश्यकता है। वंश-परंपरा (Heredity) एक प्रकार का सूत्र मात्र है जिसके निर्देश को एक विशेष कोण की ओर उन्मुख करने तथा जिस पर एक विशेष रंग चढ़ाने के लिए हमारे वातावरणों का प्रत्येक अंश निरन्तर यत्नशील है। एक क्षुद्र से क्षुद्र घटना तक इस कार्य में लगी है। फिर भी वह सूत्र सदा एक ही प्रकार प्रभावित नहीं होता रहता, प्रत्युत उसकी गढ़न किसी एक स्थिति तक आकर एकबार बहुधा रुक जाया करती है और वहाँ तक गढ़ चुके उपर्युक्त प्रतीक में कुछ प्रौढ़ता आ जाती है। ऐसी दशा में उसका रूप कुछ ऐसा कठोर हो जाता है कि उस पर किन्हीं बाहरी बातों की मुहर पूर्ववत् नहीं लग पाती, प्रत्युत वही उन पर अपना प्रभाव डालने लग जाता है और उसी को व्यक्तित्व की संज्ञा दी जाती है।

वास्तव में किसी व्यक्ति विशेष के व्यक्तित्व का निर्माण युगीन परिस्थितियों के संदर्भ में ही अधिकतर हुआ करता है। इस कारण व्यक्तित्व

का मूल्य सदा एक-सा नहीं रह पाता। जो व्यक्तित्व कभी अवतार के रूप में ईश्वर का अंश समझा जाता था वही दूसरे समय राजसत्ता का अधिकारी समझा जाने लगा। इसी प्रकार यदि वह कभी महापुरुष के रूप में धार्मिक अथवा सामाजिक सुधार का अगुआ दिखायी देता है तो कभी मध्यवर्ग अथवा निम्न वर्ग का प्रतिनिधि। वहाँ पर 'टाइप' प्रधान है, व्यक्ति नहीं। ऐसा लगता है कि अभी सम्पूर्ण व्यक्तित्व वाले मानव का विकास अथवा आविर्भाव होना शेष है जो समय-सापेक्ष है।

फलतः वातावरण एवं व्यक्तित्व के पारस्परिक सम्बंध के विषय में कहा जा सकता है कि वातावरण बहुत अंशों तक और व्यक्तित्व कम अंशों तक एक दूसरे पर प्रभाव डाला करते हैं। इसी नियम का परिणाम हमें काव्य-रचनाओं में भी देखने को मिलता है।



इसके लिए बहुत ही उपयोगी हुआ करता है। बहुत-से पद ऐसे मिलेंगे जिनका अन्य पदों के साथ पूर्वापर सम्बंध रहा करता है। ऐसी दशा में ही केवल उद्धृत पंक्तियों पर विचार करके उनका मर्म समझ लेना असंभव नहीं तो अति कठिन अवश्य होता है। संग्रह ग्रंथों को पाठ्य-क्रम में रखने के कारण कभी-कभी परीक्षार्थियों को इस प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ जाता है और बहुधा इसके कारण अनर्थ भी हो जाता है। अतएव यह आवश्यक है कि रचयिता की किसी भी रचना का अध्ययन उसके सन्दर्भ को दृष्टि में रखकर किया जाय।

साहित्य का अध्ययन करते समय इस बात की भी आवश्यकता है कि हम उसके रचना-सम्बंधी गुणावगुणों को परखने की भी योग्यता प्राप्त कर लें। साहित्यिक रचनाओं की पंक्तियों में कभी-कभी ऐसा सौन्दर्य निहित रहता है जिसका पता साधारण पाठकों को नहीं लग पाता। यदि उसकी ओर उसका जानकार संकेत कर दे तो हमें उससे अपूर्व आनन्द मिलता है। साहित्य का अध्ययन करने के पूर्व, इसी कारण, हमें चाहिए कि साहित्य-शास्त्र की प्रमुख बातों से भी परिचय प्राप्त कर लें। जितनी बातें साहित्य का अध्ययन करते समय किसी साधारण विद्यार्थी के लिए आवश्यक होती हैं वे दूसरे वर्ग वाले अध्ययनशील व्यक्तियों के लिए भी प्रायः उतना ही महत्व रखती हैं। परन्तु ऐसे लोगों के पास अपेक्षाकृत अधिक समय न रहने के कारण इनके सामने कुछ विशेष कठिनाइयाँ भी आ जाती हैं, जैसे इन लोगों का कोई प्रत्यक्ष सहायक नहीं होता है और इन्हें, इसी कारण, अपने अध्ययन-क्षेत्र को अधिक विस्तृत और विशाल करना पड़ता है। इसके साथ ही उनके लिए यह भी आवश्यक होता है कि अपने लिए उपलब्ध समय का अधिक सावधानी के साथ उपयोग कर सकें। फिर भी इतना निश्चित है कि जिस प्रकार एक साधारण विद्यार्थी के लिए आवश्यक है कि वह अपने समक्ष आये हुए विषय को क्रमशः समझता हुआ आगे बढ़े, जब तक किसी बात को समझ न

लें, तब तक उसके आगे के विषय को हृदयंगम करने की चेष्टा न करे, ठीक वही बात इस वर्ग के लोगों पर भी लागू होती है। साहित्य का अध्ययन करने वाला चाहे जिस कोटि का हो उसके लिए यह विषय अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि वह अपना कार्य किसी भी दशा में सावधानी से कर ले, प्रत्येक अंश को समझता चले। उसके सौन्दर्य को समझे और उसके महत्व का मूल्यांकन भी करता चले, अन्यथा सम्पूर्ण परिश्रम व्यर्थ-सा है।

साहित्य आत्मा की आवाज है, केवल मनबहलाव की चीज नहीं। अतएव उसके अध्ययन में हृदय की सारी शक्तियों को संयोजित कर हमें लगाना चाहिए और देखना चाहिए कि स्वयं मनुष्य अपनी आकृति एवं प्रकृति में वहाँ किस रूप में है। यह भी नहीं भूलना चाहिए कि वह मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, अतएव वह उसके प्रति कितना आस्थावान होकर किस मात्रा में कर्त्तव्य-परायण है। साहित्य में जीवन का स्पन्दन होता है। अतएव साहित्य में पुरुषार्थ की प्रेरणा होनी चाहिए, क्योंकि जीवन पुरुषार्थ को लेकर है, क्लीवता अथवा पलायन को लेकर नहीं। पुरुषार्थ विहीन जीवन गंधहीन पुष्प की भाँति केवल शोभा की वस्तु है, जीवनदायिनी प्रेरणा का स्रोत नहीं। जीवनदायिनी प्रेरणा उस जीव-तत्व की भाँति है जो जाने कितने प्रलय और महाप्रलय के बाद भी निर्बीज नहीं होता। लेखक की यही आस्था और उसका विश्वास हमें साहित्य का मूल्यांकन करने का सही और सुदृढ़ आधार प्रस्तुत कर सकेगा।

कभी-कभी साहित्य में तथ्य, सत्य, सौन्दर्य और उपयोगिता जैसे प्रश्नों को छेड़ दिया जाता है। जीवन अथवा जगत् में घटित घटना एक तथ्य है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि सभी घटनाओं का चित्त पर टिकाऊ प्रभाव पड़े। कभी-कभी वह क्षणिक प्रतिक्रिया मात्र उत्पन्न करके रह जाती है, कोई स्थायी या टिकाऊ छाप नहीं छोड़ जाती।

इसलिए वह तथ्य मात्र से अधिक और कुछ नहीं जो इतिहास जैसे विषय के काम का अधिक हो सकता है। परन्तु किसी ऐसी घटना की प्रतिक्रिया जो भावना का समर्थन प्राप्त कर ले वह साहित्य में सत्य कहलाने योग्य है। फिर भी सत्य जहाँ एक प्रकार से सीमित-सा है, वहाँ कल्पना अपेक्षाकृत असीम है। निस्सन्देह वह भावना को विकृत न कर उसे परिष्कृत करेगा। साहित्य का सच्चा सौन्दर्य भी यही है।

विभिन्न युगों में सौन्दर्य सम्बन्धी भिन्न-भिन्न प्रकार की धारणाएँ एवं कसौटियाँ रहती आई हैं। उनके प्रतीक भी बदलते रहे हैं। प्रतीकात्मक विभूतियों से लेकर व्यक्तियों तक आते-आते उसे कितनी ही मंजिलें पार करनी पड़ी हैं। साहित्य का सौन्दर्य रूप से अधिक भावना का आश्रित है। रूप उसका आलंबन जैसा है। रूपगत सौन्दर्य लुभावना होकर भी आशंका रहित नहीं है, जबकि ठीक यही बात भागवत सौन्दर्य के सम्बंध में नहीं कही जा सकती।

किसी वस्तु का अस्तित्व अपने आप में उसकी उपयोगिता को सिद्ध करता है। यह नकारात्मक नहीं है। प्रश्न केवल इतना है कि हम किसी वस्तु का उपयोग किस उद्देश्य से किस प्रकार करते हैं। यहीं पर विवेक, अनुभव अथवा परामर्श की आवश्यकता पड़ा करती है। साहित्य में किसी वस्तु का उपयोग करते समय हमें तीनों से ही काम लेना चाहिए। किसी भी वस्तु का भला-बुरा होना उसका उपयोग करने में उतना नहीं है, जितना उसके द्वारा प्रभाव उत्पन्न होने में है।

साहित्य-शास्त्र की तुलनात्मक विवेचना

हिन्दी में आलोचना-साहित्य के सृजन की ओर किये गए विविध यत्नों के इधर अनेक उदाहरण मिलने लगे हैं। काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी एवं निबन्ध से लेकर साधारण वाङ्मय के अन्य अंगों की भी आलोचनाएँ होती जा रही हैं। किन्तु इस विषय की जो पुस्तकें लिखी जाती हैं वे अधिकतर विद्यार्थियों के ही काम की होती हैं और उनमें उच्च स्तर की बातों का समावेश प्रायः नहीं रहा करता। जिस किसी ऐसी पुस्तक में विभिन्न कवियों अथवा लेखकों की कृतियों की चर्चा की गई मिलती है उसमें मानो उनका ऐतिहासिक और व्याख्यात्मक परिचय रहा करता है अथवा उसमें परंपरागत साहित्य पद्धति के नियमानुसार किये गए मूल्यांकन का एक यत्न-मात्र दीख पड़ता है। इसके सिवाय जो पुस्तकें आजकल आलोचना के विषय का सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुत करती हुई जान पड़ती हैं उनमें भी अभी तक प्राचीन भारतीय अथवा आधुनिक योरुपीय साहित्य-शास्त्र के अंगों का केवल परिशीलन-मात्र ही लक्षित होता है। उनके तुलनात्मक अध्ययन अथवा साहित्य-सम्बंधी मौलिक प्रश्नों पर किये गए सुलझे विचारों का प्रायः अभाव-सा ही दीख पड़ता है। इस उद्देश्य से लिखे गए कतिपय निबन्ध अवश्य प्रकाशित होते रहे हैं, किन्तु अभी तक उनकी भी संख्या पर्याप्त नहीं कही जा सकती। फलतः आलोचना के सैद्धान्तिक तथा प्रयोगात्मक पक्षों में से अभी तक किसी एक पर भी हिन्दी में गवेषणापूर्ण एवं मौलिक कृतियों की रचना होती नहीं दीख पड़ती। डॉ० एस० पी० खत्री की आलोच्य पुस्तक आलोचना के सैद्धान्तिक पक्ष-विषयक

हमारे साहित्य की इस कमी को दूर करने के ही यत्न में ही लिखी जान पड़ती है।

आलोचना : इतिहास तथा सिद्धान्त दो खण्डों में विभाजित करके लिखा गया है और इनमें से पहले का सम्बंध आलोचना के सिद्धान्तों के आरम्भ एवं क्रमिक विकास से है और दूसरे के अन्तर्गत उनके शास्त्रीय निरूपण तथा प्रतिपादन की चेष्टा की गई है। प्रथम खण्ड में ६ प्रकरण हैं और द्वितीय खण्ड में केवल ५ हैं। प्रथम खण्ड के प्रथम प्रकरण का आरम्भ प्राचीन आलोचना के समय को तीन कालों में विभाजित करके किया गया है जिनमें से पहले का सम्बंध ईसा पूर्व वाली पाँचवीं एवं चौथी शताब्दियों से है, दूसरे में तीसरी एवं दूसरी शताब्दियों की बातें आती हैं। इसी प्रकार, तीसरा इसके आगे वाले उन दो सौ वर्षों तक चला जाता है जब कि यूनान एवं रोम के पारस्परिक सम्बंधों के कारण पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति का आरम्भ होने लगा था। इनमें से प्रथम काल में ही हमें यूनानियों की आलोचना-विषयक प्रतिभा के प्रथम दर्शन हुए और तीसरे काल तक इस प्रकार के साहित्य-सृजन में रोम वालों ने भी अपना हाथ बँटाया। लेखक ने प्रथम खण्ड के द्वितीय प्रकरण में काव्यादर्श एवं काव्य-शैली की तत्कालीन प्रेरणाओं तथा प्रवृत्तियों की चर्चा की है और ऐसा करते समय उसने उक्त समय की प्रचलित निर्णयात्मक आलोचना की एक संक्षिप्त कहानी भी दे दी है। इसके तीसरे प्रकरण में अफलातून तथा अरस्तू के काव्य-सम्बंधी सिद्धान्तों का परिचय किंचित् विस्तार के साथ दिया गया है। फिर, इसी प्रकार, चौथे एवं पाँचवें प्रकरणों तक भाषण-कला, नाट्य-कला एवं गद्य-शैली के विकास तथा छन्दों एवं अलंकारों के प्रारम्भिक प्रयोगों का दिग्दर्शन कराया गया है। पाँचवें प्रकरण में लेखक ने इस बात का भी उल्लेख किया है कि ईसा के आविर्भाव-काल से पीछे तक वस्तुतः

यूनानी दार्शनिकों के ही सिद्धान्तों का अधिक प्रचार होता रहा। रोम वालों की देन उतनी बड़ी नहीं रही।

इस खण्ड के छठे प्रकरण के अन्तर्गत लेखक ने भारतीय आलोचना-विषयक सिद्धान्तों के भी उद्भव एवं विकास की चर्चा की है, किन्तु यह उतनी विस्तृत नहीं है। यहाँ की प्राचीन कालीन विचार-धारा के उद्भव एवं विकास के सम्बंध में निश्चित संकेतों के न रहने के कारण, स्वभावतः, भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' से ही इस विषय के वर्णन का यत्न लेखक ने किया है और फिर इसके आगे क्रमशः रस-शास्त्र, अलंकार-परंपरा, रीति एवं ध्वनि का प्रसंग छेड़ा है। लेखक ने इन सम्प्रदायों की स्थापनाओं का केवल सांकेतिक परिचय ही दिया है और सबके अंत में वह इस परिणाम पर पहुँचा है कि भारतीय साहित्य-शास्त्र की प्रायः सहस्र वर्षीय साधना का भी स्वरूप प्रधानतः वही रहा जिस पर पश्चिमी साहित्यिकों ने भी विचार किया था।

प्रथम खण्ड के प्रथम प्रकरण के अन्तर्गत लेखक ने सोलहवीं शताब्दी तथा सत्रहवीं के प्रथम चरण तक दीख पड़ने वाले साहित्यिक नवोत्साह और तज्जन्य आलोचना के विकास का वर्णन योरुप की तत्कालीन सामाजिक स्थिति के ही आधार पर किया है। उसने, इसी प्रकार, आठवें प्रकरण में भी सत्रहवीं शताब्दी के शेष अंश एवं अठारहवीं के भीतर पायी जाने वाली नवीन साहित्यिक प्रेरणाओं का उल्लेख किया है। इस युग में वीर-काव्य, उपहास-काव्य, गीति-काव्य तथा प्राचीन एवं नवीन नाटक-रचना-शैलियों का विशेष प्रचार था। प्राचीन आलोचना-शैली अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच गई थी, निर्णयात्मक समालोचना के साथ-साथ तुलनात्मक अध्ययन की प्रवृत्ति भी इस युग में विशेष रूप से लक्षित हुई। उन्नीसवीं शताब्दी तथा उसके आगे की प्रवृत्तियों की चर्चा इस खण्ड के नवें प्रकरण में की गई है और इसी में

पत्रकार-कला के उदय तथा विभिन्न आलोचना-पद्धतियों का भी वर्णन है।

पुस्तक के द्वितीय खण्ड में जो पाँच प्रकरण हैं उनमें से पहले में लेखक ने आलोचना-सम्बंधी सिद्धान्तों के निर्माण का आधार निरूपित किया है। इस सम्बंध में उसने आलोचना की प्रवृत्ति की व्यापकता की ओर संकेत किया है, उसके साहित्यिक रूप के क्षेत्र का परिचय दिया है और इसके साथ ही आलोचक एवं साहित्यकार के पारस्परिक सम्बंध के विषय में निर्णय करते हुए कला के लक्ष्य, भाषा, छंद एवं अलंकार के प्रयोग तथा सौन्दर्यानुभूति की क्षमता आदि का भी विवेचन किया है। इस खण्ड के दूसरे प्रकरण में लेखक ने आलोचना-प्रणालियों के वर्गीकरण का प्रश्न उठाया है और इसी प्रसंग में 'आलोचना' शब्द के विभिन्न अर्थों की भी चर्चा की है। तृतीय प्रकरण में आलोचना के वर्गीकरण का यत्न भी किया गया है और इस सम्बंध में प्रायः उन सभी वादों के नाम लिये गए हैं जो आजकल प्रचलित दीखते हैं। प्रगतिवादी आलोचना-पद्धति का वर्णन लेखक ने कुछ विस्तार के साथ इस खण्ड के चतुर्थ प्रकरण में किया है। इसमें मार्क्सवादी आदर्श का परिचय देते हुए उसके अनुकूल साहित्य की रचना एवं तत्सम्बंधी त्रुटियों का उल्लेख किया गया है और उसके उपयुक्त मानदण्ड की भी कल्पना की गई है। इस खण्ड के अन्तिम अर्थात् पाँचवें प्रकरण का शीर्षक 'उपसंहार तथा परिभाषाएँ' दिया गया है और इसके अन्तर्गत लेखक ने आलोचकों के लिए वस्तुतः पथ-निर्देश किया है। इसके पूर्वार्द्ध में उसने आलोचकों की योग्यता, उनकी कार्य-प्रणाली एवं दायित्व आदि के सम्बंध में कतिपय संकेत किये हैं और इसके उत्तरार्द्ध वाले अंश में योरुप के प्रमुख कवियों और आलोचकों द्वारा दी गई आलोचना की परिभाषाओं को उद्धृत करके उनकी व्याख्या भी कर देने का यत्न किया है।

पुस्तक के दोनों खण्डों के विस्तार का अनुपात प्रायः दो तिहाई एवं एक तिहाई का है जिससे स्पष्ट है कि लेखक ने आलोचना के ऐतिहासिक परिचय को अधिक महत्व दिया है और इसके सिद्धान्त एवं कार्य-प्रणाली को इसकी प्रवृत्ति के उद्गम एवं विकास के ही वर्णन द्वारा स्पष्ट करने की उसने अधिक चेष्टा की है। फिर भी इसके ऐतिहासिक परिचय के अन्तर्गत उसने जितना ध्यान योरुपीय आलोचना-पद्धति की ओर दिया है, उतना भारतीय आलोचनात्मक सिद्धान्तों पर विचार नहीं किया है और न उसके विभिन्न सम्प्रदायों के विकास का कोई संक्षिप्त उल्लेख भी किया है। पुस्तक के प्रथम खण्ड के छठे प्रकरण में जहाँ इस विषय की चर्चा आई है, वहाँ लेखक ने इसके प्रायः सभी उल्लेखनीय प्रश्नों को छोड़कर उन्हें चलता कर दिया है। यहाँ पर यदि भारतीय काव्यादर्श तथा रस जैसे विषयों का विस्तृत परिचय उनके विकास-क्रमानुसार दे दिया गया होता तो अधिक अच्छा था। योरुपीय एवं भारतीय आलोचना-सिद्धान्तों के कई विषय यहाँ तुलनात्मक अध्ययन द्वारा भी स्पष्ट किये जा सकते थे। इस खण्ड में लेखक ने उन सभी प्रमुख आलोचकों के भी नाम नहीं लिये हैं जिनके सिद्धान्तों का उसने विवेचन किया है। अच्छा होता यदि आलोचना की विभिन्न प्रवृत्तियों के क्रमिक विकास पर पृथक्-पृथक् तथा अधिक स्पष्ट शब्दों में विचार किया गया होता जिससे उनके उद्देश्य-विशेष, निर्दिष्ट सीमा तथा वास्तविक देन पर पूरा प्रकाश पड़ता और उनकी पारस्परिक तुलना में पर्याप्त सहायता भी मिलती।

लेखक ने सिद्धान्त वाले द्वितीय खण्ड में जो आलोचना के वर्गीकरण-सम्बंधी प्रश्न उठाये हैं उनका भी उसने कोई सन्तोषप्रद समाधान नहीं किया है और इस प्रक्रिया का आधार केवल प्रचलित प्रणालियों के अस्तित्व को ही मानकर उनका समाधान कर लिया है। इस प्रकार की समस्या को उठाते समय लेखक का ध्यान आलोचना की

दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक पृष्टभूमि की ओर जाना चाहिए था। साहित्य यदि सचमुच मानव-जीवन-सम्बंधी तत्वों की अभिव्यक्ति है तो उसकी आलोचना को भी उसका रूप अनिवार्यतः ग्रहण करना पड़ेगा और उन दोनों की सजातीयता ही हमें उनके लिए दार्शनिक आधारों को ढूँढ निकालने के लिए भी प्रेरित करेगी। इसके सिवाय आलोचना की विविध प्रणालियों के स्वाभाविक वर्गीकरण की समस्या को इस एक साधारण संकेत के आधार पर भी हल कर सकते हैं कि आलोचक की वास्तविक मनःस्थिति क्या है और किस आदर्श-विशेष को अपने सामने रखकर वह कार्य में प्रवृत्त होता है। जिन आलोचना-प्रणालियों के नाम लेखक ने इस खण्ड के तृतीय प्रकरण में गिनाये हैं उनमें से प्रायः सभी पर विचार केवल इस एक आधार पर भी किया जा सकता है और उसकी संख्या को इस प्रकार बहुत-कुछ कम भी किया जा सकता है। इन प्रणालियों में से एकाध अन्य पर भी प्रगतिवादी आलोचना की भाँति अधिक विस्तृत विचार किया जा सकता था। फिर भी जिन दो-चार बातों की ओर ऊपर संकेत किया गया है उनके कारण आलोच्य पुस्तक की उपयोगिता में कमी नहीं आती। हिन्दी की वर्तमान आलोचना-पद्धति योरुपीय आलोचना-सिद्धान्तों द्वारा अधिकाधिक प्रभावित होती जा रही है। दोनों परंपराओं के तुलनात्मक अध्ययन एवं विवेचना पर ही हमारे भावी आलोचना-सम्बंधी आदर्शों के निर्मित होने की सम्भावना है।



हिन्दी में व्यावहारिक समालोचना

१. उपक्रम

हिन्दी संसार में इस समय ग्रंथ-प्रकाशन की बड़ी धूम है। काव्य, नाटक, उपन्यास, आख्यायिका, इतिहास, दर्शन, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि से लेकर बाल साहित्य, महिला साहित्य अथवा शिल्प विज्ञान विषयक पुस्तकें धड़ाधड़ प्रकाशित होती चली जा रही हैं। अब केवल अनुवादों का ही समय नहीं रह गया है। आजकल के लेखक किसी भी विषय को लेकर 'मौलिक ग्रंथ' की रचना आरम्भ कर देते हैं।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रेसों से सैकड़ों विभिन्न विषयों की पुस्तकें प्रति वर्ष निकल रही हैं। कितने नये-नये प्रेस और प्रकाशन भी स्थापित होते जा रहे हैं और बहुत से प्रेसों से पुस्तकों के सिवाय मासिक, त्रैमासिक साप्ताहिक अथवा दैनिक पत्र-पत्रिकाएँ भी प्रकाशित होती जा रही हैं। इन सब बातों को देखते हुए जान पड़ता है कि हिन्दी के स्थायी तथा अस्थायी सभी प्रकार के साहित्यों में एक बाढ़-सी आ गई है। वास्तव में, आज साहित्य का जितना उत्पादन होता है, उतना सृजन नहीं।

परन्तु इस वृद्धि को देख कर हमारे सामने स्वभावतः दो प्रश्न उपस्थित होते हैं। एक तो यह कि ऐसे समय दैनिक झंझटों में फँसा हुआ मनुष्य यदि कुछ पढ़ना चाहे तो उसे अल्प समय में ही इस वृद्धिशील ग्रंथ-राशि में से अपनी रुचि के अनुसार पुस्तकों का चुनना भी अत्यन्त कठिन कार्य होगा और उसे इसके लिए कोई सुलभ साधन नहीं मिल

सकता । दूसरा यह कि ग्रंथों की इस संख्या-वृद्धि से हम हिन्दी साहित्य की प्रगतिशीलता का पता चलाने में भी भारी भ्रम कर सकते हैं। उन्नतिशील साहित्य का तात्पर्य ग्रंथों की केवल संख्या-वृद्धि का ही होना नहीं है। साहित्य का उच्च कहलाना उनके सच्चे गुणों पर अवलम्बित है।

इन उपर्युक्त दोनों प्रश्नों के उचित उत्तर के लिए हमें खरी समालोचना का आश्रय लेना परमावश्यक है। समालोचना हमें बढ़ती हुई ग्रंथ-राशि में से पुस्तकों को शीघ्र चुनने में भी सहायक होगी और उससे हमें अल्प समय में यह भी पता लगता रहेगा कि अपनी वास्तविक स्थिति क्या है। यही नहीं, यदि हम समालोचना के क्षेत्र को कुछ अधिक विस्तृत कर दें और इसे एक स्वतंत्र विषय के रूप में अध्ययन करके व्यवहार में लाने लगें तो हमें यह भी जान पड़ेगा कि अपने देश अथवा संसार के अन्य साहित्यों की तुलना में अपने हिन्दी साहित्य का स्थान कहाँ पर है और आगे चलकर कहाँ रहेगा। हम सच्चा आदर्श अथवा मानदण्ड भी स्थापित कर सकेंगे और अपने यहाँ के ग्रंथकारों की योग्यता की परीक्षा करके उनके उचित मूल्य का निर्धारण करते हुए भविष्य के लिए प्रोत्साहन भी दे सकेंगे जो निकृष्ट साहित्य को दबाने के समान ही लाभदायक है।

परन्तु समालोचना का कार्य बहुत ही दुष्कर है। आजकल की निकलने वाले पत्र-पत्रिकाओं में बहुधा हमें समालोचना के कुछ नमूने देखने को मिलते हैं। कभी-कभी एकाध ऐसी पुस्तकें भी निकल जाती हैं जिनमें प्राचीन अथवा नवीन लेखकों या कवियों के विषय में कुछ चर्चा की गई रहती है। पत्रिकाओं की समालोचना वास्तव में स्थायी नहीं और न इस दृष्टि से हमारे समालोचक लिखा ही करते हैं। सामयिक पत्रों की समालोचना से अधिकतर यही व्यक्त होता है कि अमुक व्यक्ति ने अमुक ग्रंथ की रचना की है और साधारणतः उसके गुण तथा अवगुण ये हैं। यह समालोचना एक प्रकार की सूचना के रूप में होती है। इधर की

प्रकाशित कुछ हिन्दी की समालोचनात्मक पुस्तकों से भी हमें सिवाय इसके और कुछ भी नहीं जान पड़ता कि अमुक पुराना कवि अथवा लेखक किसी अन्य कवि अथवा लेखक से बड़ा है वा छोटा। खेद है कि ऐसी अधूरी समालोचना से हमारे साहित्य की कोई पूर्ति नहीं होने पर भी, हम इन्हें महत्वपूर्ण ग्रंथ समझ रहे हैं।

हम चाहते हैं कि इस परमावश्यक विषय की ओर हिन्दी प्रेमियों का ध्यान इस समय विशेष रूप से आकर्षित हो। समालोचन-कला का अध्ययन किया जाय, अपने साहित्य-ज्ञान की सीमा अधिकाधिक विस्तृत की जाय, आदर्श तथा उद्देश्य के विषय में अपने विचार स्थिर किये जायँ और यह समझते हुए कि समाचोलना का कार्य केवल क्षणिक अथवा क्षयशील न होकर, वास्तव में रचनात्मक भी है। एक महान और उज्वल भविष्य के लिए उद्योग किया जाय। इसके लिए तैयारी शीघ्र नहीं की जा सकती और न इसके लिए केवल एक वा दो व्यक्तियों के उद्योग पर्याप्त होंगे। प्रत्येक हिन्दी प्रेमी इसकी आवश्यकता को भली भाँति अनुभव कर सकता है और अपनी-अपनी सहायता दे सकता है, चर्चा होते रहने से कभी न कभी सफलता अवश्य मिलेगी। संभव है कभी वे दिन आयेंगे, जबकि हिन्दी साहित्य का स्थान हम अन्य साहित्यों के समक्ष ऊँचा देख सकेंगे।

२. साहित्य का स्वरूप और उसके विभाग

समालोच्य ग्रंथ में हाथ लगाने के पहले समालोचक के हृदय में प्रायः दो प्रकार की भावनाओं का उठना स्वाभाविक है। एक तो यह कि प्रस्तुत ग्रंथ किस श्रेणी वा प्रकार का है अर्थात् वह किस श्रेणी का काव्य ग्रंथ है अथवा इतिहास है या अन्य किसी श्रेणी का और दूसरा यह कि किस ग्रंथ को हम किस दृष्टि अथवा किन-किन दृष्टियों से देखने का यत्न करें। ये बातें ऐसी हैं जिन पर समालोचना करने के पहले सोच

लेना कला तथा व्यवहार इन दोनों के अनुसार बहुत आवश्यक हो जाता है। कला के अनुसार इसलिए कि बिना किसी नियम को स्थिर किये अपनी रचना में सौन्दर्य का लाना अत्यन्त कठिन है। व्यवहार के अनुसार इसलिए कि अनगढ़ एवं बेढंगी रचना द्वारा अपने अभिप्रेत प्रभाव का लाना व्यर्थ है। वह न तो किसी पाठक की रुचि के अनुकूल होगी और न, इसी कारण, कोई उसे अध्ययन करने का परिश्रम सहन कर कुछ लाभ ही उठायेगा। अतएव हम इन दोनों बातों पर क्रमशः विचार करेंगे। नीचे लिखी पंक्तियों द्वारा हम पहले साहित्य के विभिन्न भागों की ही संक्षिप्त चर्चा करना चाहते हैं।

'साहित्य' शब्द की व्याख्या करने के फेर में न पड़कर केवल इतना जान लेना आवश्यक है कि साधारण रीति से 'साहित्य' शब्द से आजकल लगभग सारे ग्रंथ-समूह से ही अभिप्राय समझा जाता है। इस दृष्टि से विचार करने पर साहित्य को हम स्थूल रूप से ज्ञान-प्रधान तथा भाव-प्रधान नामक दो मुख्य श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं। ज्ञान-प्रधान ग्रंथ हम उन रचनाओं को कहेंगे जिनके द्वारा उनका रचयिता उनके पाठकों को नवीन, प्राचीन, व्यावहारिक अथवा सैद्धान्तिक विषयों की सूचना दिया करता है। उदाहरण के लिए नये आविष्कार, प्राचीन घटनाएँ, विविध विज्ञान तथा कला सम्बंधी क्रियाओं और नियमों का वर्णन अथवा स्पष्टीकरण मात्र ही ऐसे ग्रंथों का उद्देश्य हुआ करता है। इसी कारण, इनके अध्ययन से पाठकों का अभिप्राय किसी न किसी प्रकार की जानकारी का प्राप्त करना कहा जा सकता है। भाव-प्रधान ग्रंथों से हमारा तात्पर्य उन पुस्तकों से है जिन्हें उनका रचयिता किन्हीं भावों के आवेश में आकर अथवा अपनी कल्पना से उत्तेजित होकर लिखा करता है। इसी कारण, उनका उद्देश्य किसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त कराने की अपेक्षा पाठकों के हृदय अथवा मस्तिष्क में समान भावों अथवा कल्पनाओं का आविर्भाव कराना है। उदाहरण के लिए काव्य, नाटक, उपन्यास, आख्या-

यिका आदि कुछ इस प्रकार की रचनाएँ हुआ करती हैं जिनसे पाठकों को किसी प्रकार की बातों की जानकारी न भी हो तो भी उनके अध्ययन द्वारा उनकी भावनाओं तथा मनोवृत्तियों पर ऐसा प्रभाव पड़ता है जो सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन करने पर ज्ञान-लाभ से किसी प्रकार कम नहीं। ज्ञान-प्रधान ग्रंथों में केवल विषय विशेष मात्र का विवेचन हुआ करता है। इस प्रकार उसकी व्यापकता सीमित कही जा सकती है, किन्तु भाव-प्रधान ग्रंथों के प्रभाव का अनुभव एक प्रकार से अपरिमित है। विज्ञान, गणित अथवा इतिहास के लेखक जिस विषय का प्रतिपादन करेंगे उसको पूर्ण रूप से समझा देने के लिए अनेक प्रकार की युक्तियों द्वारा इसे मर्यादित करने की चेष्टा करेंगे। किन्तु काव्य-रचयिता अपने विषय की ओर प्रायः संकेत मात्र करके ही चुप रह जायेगा। पाठकों का हृदय क्षुब्ध हो जाने के कारण उसकी भावनाएँ, सागर की लहरों के समान तट की खोज में चारों ओर प्रसार करने लगेंगी। एक का अभिप्राय यदि परिधि अथवा वृत्त की ओर से केन्द्र के सम्मुख लाना है तो दूसरे का उद्देश्य केन्द्र में खलबली पैदा करके किसी अदृष्ट वृत्त की ओर उन्मुख मात्र कर देना है।

ज्ञान-प्रधान ग्रंथों की श्रेणी में आने वाली रचनाएँ कई प्रकार की हो सकती हैं। उनमें से भी प्रत्येक में और भी अनेक विभाग तथा उप-विभाग होंगे। उदाहरण के लिए दर्शन, विज्ञान, गणित, इतिहास आदि के किसी भी ज्ञान-प्रधान ग्रंथ को ले लीजिए। विषय के विभाग तथा उप-विभाग की दृष्टियों से उसे हमें कई भिन्न-भिन्न श्रेणियों में रखना पड़ेगा। यदि ग्रंथ दर्शन का है तो यह मनोविज्ञान, नीतिविज्ञान, सृष्टि-विज्ञान, तत्व विज्ञान, दार्शनिक इतिहास, तर्कशास्त्र आदि में से किसी एक में पहले समझा जायेगा। फिर भी यदि मनोविज्ञान का ही ग्रंथ हो तो उसे, उदाहरण के लिए भौतिक मनोविज्ञान, विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान, मनोवैज्ञानिक इतिहास, कैरेक्टरोलाजी, साइकिइस्ट्री आदि में से

किसी एक में समझ सकते हैं। यों ही अन्य विभागों तथा उप-विभागों के विषय में भी मान लेना चाहिए। भाव-प्रधान ग्रंथों में यद्यपि विषय की दृष्टि से इतने अधिक भाग नहीं किये जाते, किन्तु स्थूल दृष्टि से देखने पर उनमें भी बहुत-सी श्रेणियाँ हैं। पहली श्रेणियाँ गद्य, पद्य तथा मिश्रित नाम की हैं। फिर गद्य में उपन्यास, कहानी, निबन्ध, पत्र, स्फुट उद्‌गार पूर्ण लेख संग्रह, आदि आ सकते हैं। उपन्यास में ही उदाहरण के लिए सामाजिक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, नैतिक उपन्यासों की गिनती कर सकते हैं। इसी प्रकार पद्य में महाकाव्य, खण्डकाव्य, गीतिकाव्य, गीतसंग्रह के नाम दिये जा सकते हैं। इनमें से भी प्रत्येक में विषय अथवा शैली के अनुसार कई उप-विभाग बताये जा सकते हैं। मिश्रित ग्रंथों में चम्पू, भाण, प्रहसन आदि की चर्चा की जा सकती है। इनमें से भी प्रत्येक में विभाग अथवा उप-विभाग होंगे। तात्पर्य यह कि समालोच्य ग्रंथ को एक साधारण रूप से देखते हुए भी हम सहसा उसे उपर्युक्त किसी वर्ग में रखने लग जाते हैं।

दूसरी बात जिसके विषय में ऊपर निर्देश किया जा चुका है वह इससे कठिन, किन्तु अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न है, क्योंकि इसी एक समस्या के हल हो जाने पर हमें 'साहित्य' शब्द के वास्तविक रहस्य का पता चल सकता है। पश्चिमी देशों में प्रसिद्ध अफलातून से लेकर समालोचन-कला के वर्तमान आचार्यों तक ने इस विषय पर गवेषणापूर्ण विचार किया है। सबके मंतव्यों का निष्कर्ष यही निकलता है कि साहित्य के मुख्य तत्व उसके ग्रंथों के विषय, उनकी शैली तथा इनके साथ ही उनकी आनन्द-प्रदायिनी शक्ति है। इनमें से विषय शब्द के अन्तर्गत ज्ञान-प्रधान ग्रंथों के प्रतिपाद्य विषयों के साथ ही भाव-प्रधान ग्रंथों के कथानकों का भी समावेश है। उसी प्रकार शैली शब्द से अभिप्राय शब्द-विन्यास और वाक्य-निर्माण कला की खूबियों से लेकर ग्रंथ के आकारादि की एक सुडौल रूपरेखा (Symmetry) तक से भी है। आनन्द-प्रदायिनी

शक्ति का तात्पर्य साहित्य-सेवियों के अनुसार यह है कि सच्चे साहित्य में एक ऐसा गुण होता है जो अध्ययन करने वाले की कल्पना-शक्ति पर अपना प्रभुत्व शीघ्र जमा लेता है और फिर मनुष्य की दशा अपने आप को सहसा भूल जाने वाले के समान हो जाती है। इस प्रकार की तन्मयता ही इस गुण के प्रभाव का एक मुख्य लक्षण है। साहित्य के इस तत्व को हम अपने साहित्यज्ञों के शब्दों में इस नाम से पुकारें तो कदाचित् कोई विशेष अत्युक्ति नहीं होगी। ध्वनि, लक्षण, व्यंजना, रीति, अलंकार आदि कई बातों का समावेश, इसी प्रकार, शैली के अन्तर्गत हो जायगा। अतएव इन दृष्टियों से विचार करने पर हम इन दोनों अन्तिम तत्वों को भाव-प्रधान ग्रन्थों के ही विशेष गुण मानें तो ठीक समझा जा सकता है।

३. समालोचना का स्वरूप

अब तक समालोचना करते समय हम बहुधा यही देखते आये हैं कि प्रस्तुत ग्रंथ विशेष में क्या गुण तथा अवगुण हैं और वे गुण वा अव-गुण हमारी प्राचीन समालोचना-पद्धति के नियमानुसार कहाँ तक शास्त्रीय हैं। ऐसी समालोचना एक प्रकार से साहित्य को स्थितिशील समझ लिया करती है जिससे हमें समालोच्य विषय की प्रगतिशीलता का कुछ भी पता नहीं लगता। साहित्य का सामूहिक रूप भी हमारे ध्यान से अलग हो जाता है और भिन्न-भिन्न स्थानों से होकर विचरण, भ्रमण करने वाली निर्झरिणी की केवल एक धारा को ही देखने के यत्न के समान हमारा सारा उद्योग अधूरा तथा एकांगी होकर ही रह जाता है। अभी लगभग सौ वर्ष के ही अन्दर हमारे हिन्दी साहित्य में एकदम नये-नये कई परि-वर्तन हो गए। गद्य भाग जो पहले नहीं के बराबर था, किस प्रकार बृहत् और वृद्धिशील रूप धारण करके सामने आ गया। सामयिक साहित्य का अवतार हो गया और अनेक भिन्न-भिन्न साहित्यों के संपर्क में

आते रहने के कारण किस प्रकार इसमें नये भाव तथा नयी वेष-भूषा का आविर्भाव हो गया । ये सभी बातें हमारे सामने अभी-अभी गुजरी हैं । परन्तु आश्चर्य है कि साहित्यिक टीका-टिप्पणी करते समय हम लोग अभी तक इन्हें अपने ध्यान में रखना तथा इनसे कुछ लाभ उठाना आवश्यक नहीं समझते ।

कारण इसका यही है कि अभी तक हमारा ध्यान विशेष रूप से अपने पुराने साहित्य की ही ओर रहा है । प्राचीन साहित्य का अध्ययन करना उसको मनन करने के साधन रूप अपने प्राचीन उत्तमोत्तम ग्रंथों के अच्छे-अच्छे संस्करण निकालना तथा अपने प्राचीन लेखकों अथवा कवियों के महत्व को विचारपूर्वक समझने की चेष्टा करना ये सब बातें बहुत ही आवश्यक हैं । ऐसा कौन होगा जो अपनी आगामी आय की आशा में अपने वर्तमान कोष की रक्षा करना अनावश्यक समझता हो । बात केवल यही है कि प्रस्तुत कोष के रुपये गिनना तथा उनका हिसाब रखना कोई ऐसा कार्य नहीं है जिसमें आप अपनी सारी शक्ति लगा दें और भविष्य के उपार्जन वाले उद्योग पर भी उसका प्रभाव पड़ने लगे । कोई कार्य जब मनुष्य का ध्यान एकांगी रूप से आकर्षित कर लेता हो तो उसे लाभदायक कभी नहीं कहा जा सकता ।

परन्तु परवर्ती कालीन समालचोना-पद्धति प्राचीन आचार्यों द्वारा निर्धारित लक्षणों अथवा स्थापनाओं तक ही सीमित नहीं रह गई है । हमारे ज्ञान के प्रायः सभी क्षेत्रों का सम्बंध किसी न किसी रूप में उससे जुड़ गया है । अतएव उसे कई मोड़ों से गुजरना पड़ रहा है । डारविन, फ्रायड, मार्क्स और आइन्सटीन जैसे विचारकों ने अपने-अपने विचारों द्वारा विचार-जगत् में हलचल पैदा कर दी है । दर्शनों की अपेक्षा विचारों का महत्व बढ़ गया है । इन विचारों का इतना व्यापक प्रभाव पड़ा है कि आज के लेखक अथवा समालोचक को उनकी संगतियों अथवा असंगतियों पर भी विचार करने को बाध्य होना पड़ता है ।

फलतः आज का लेखक अथवा समालोचक या तो किसी न किसी प्रचलित मतवाद से अपना सम्बंध स्थापित कर लेता है या प्रतिद्वन्द्वी मतवादों को निर्मूल करने में इतना अधिक उलझ जाता है कि स्वयं साहित्य का स्थान गौण बन जाता है। इस प्रकार आज की समालोचना बहुत कुछ एकांगी तथा एकदेशीय बनकर रह गई है। व्यक्ति एवं समाज, अन्तर्वृत्ति तथा बाह्य प्रेरणा और राष्ट्रीयता एवं मानवता के बीच किसको कितना महत्व दिया जाय यह आज के चिन्तनशील समालोचक के लिए चिन्ता का विषय है। मूल्यों का प्रश्न जटिल बनता जा रहा है। कभी-कभी तो ऐसा लगने लगता है कि मूल्यों के ऊहापोह में स्वयं उनके केन्द्र-विन्दु मानव तक की स्थिति सोचनीय बन जाती है। कभी-कभी इस नाभ पर मानवी मूल प्रवृत्तियों की विकृतियों तक को जाने-अनजाने प्रश्रय मिलने लग जाता है। किसी भी उन्नत समाज के लिए विकृतियों से आकण्ठ भरा मानव आदर्श नहीं कहला सकता। यह स्वयं मानवी मूल्यों का अवमूल्यन समझा जायेगा। संभवतः यह अर्थ-प्रधान युग का परिणाम है, जहाँ इतनी विषमता बनी हुई है।

फिर भी उपर्युक्त स्थिति शाश्वत नहीं है। अन्ततोगत्वा लेखक अथवा समालोचक को अपनी-अपनी कल्पनाओं तथा धारणाओं द्वारा किसी ऐसे स्वस्थ समाज को ही अपना लक्ष्य बनाना होगा जिसमें स्वस्थ एवं सक्रिय मानव का दर्शन संभव हो सकेगा और स्वस्थ व्यक्ति तथा समाज का अस्तित्व किसी न किसी प्रकार के नैतिक मूल्यों की नीवँ पर ही टिक सकेगा। लेखकों के बीच प्रायः मानवी मूल्यों की चर्चा हुआ करती है। अब स्वयं मानव के लिए नैतिक मूल्यों पर विचार होना चाहिए जो 'सार्वभौम तुला' का काम दे सकती है। ऐसी नैतिकता व्यक्तिगत अथवा वर्गगत न होकर व्यक्ति के सामाजिक गुण के रूप में ही प्रवर्तित हो सकती है। जीवन का सच्चा सौन्दर्य और उसकी सार्थकता इसी एक गुण में निहित है जो समालोचना की कसौटी बनने की क्षमता, योग्यता

एवं सामर्थ्य रखता है, अन्यान्य गुण आनुषंगिक मात्र ठहरते हैं। कोरी शास्त्रीयता अथवा स्थितिशील राष्ट्रीयता का दामन पकड़ कर चलने वाली समालोचना का भविष्य चिन्त्य हो सकता है। आलोचना अपनी आकृति में गतिशील राष्ट्रीयता और प्रकृति में मानवता से सम्पन्न होनी चाहिए।

हिन्दी के कुछ नवीन लेखकों ने इधर वर्तमान कवियों अथवा लेखकों पर कुछ न कुछ लिखना आरम्भ किया है और किसी-किसी ने तो हिन्दी कविता के परिवर्तनों पर विचार करते हुए उसमें भिन्न-भिन्न वर्गों अथवा मतवादों तक के उल्लेख किये हैं। परन्तु अभी तक इस ओर श्रीगणेश मात्र ही हुआ है और बहुत कुछ अभी करने को शेष रह गया है। उचित है कि साहित्य के किन्हीं विशेष-विशेष अंगों को लेकर उनके विकास का पूर्ण रूप से अध्ययन किया जाय। उनके सम्बंध में होने वाले परिवर्तनों की परीक्षा की जाय। उनके कारण ढूँढ़े जायँ तथा इसी के अनुसार स्थायी नियमों की रचना करके आदर्श निश्चित करते हुए वर्तमान लेखकों के गुण-अवगुणों की परख की जाय और आगे के लिए मार्ग-निर्माण में सहायता की जाय। किसी ग्रंथ विशेष को अलग उठा-कर उस पर अपना विचार प्रकट करना अथवा किसी एक लेखक को लेकर उसे साहित्य-संसार से अलग समझते हुए बुरा-भला कह देना कभी उचित नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक ग्रंथ अपने रचयिता के पूर्ण व्यक्तित्व का एक अंश है और उसी प्रकार प्रत्येक ग्रंथकार अपने सामा-यिक साहित्यिकों में अपना स्थान कहीं न कहीं पर रखता है। हम इन दोनों में से किसी को एकदम अलग नहीं कर सकते। ऐसी समालोचना सदा आंशिक अथवा एकांगी कही जायेगी। इसी प्रकार मतवादी आलो-चना भी जीवन की भाँति व्यापक एवं विस्तृत नहीं हो पाती और अपने दायरे में ही सिमट कर रह जाती है। कोई भी मतवाद अपने विधि-विधानों का आश्रित रहने को बाध्य है, जबकि जीवन बहुत कुछ

उन्मुक्त भी है। कारण, मतवाद की युगीन सीमा है, किन्तु जीवन अविरल प्रवाह है।

गत सौ वर्षों के अन्दर हमारे युग तथा देश में न जाने कितने सामाजिक, राजनीतिक अथवा साहित्यिक आन्दोलन हो गए हैं। बड़े-बड़े महापुरुषों ने जन्म लेकर कई भिन्न-भिन्न प्रकार की भावनाओं की नींवें डाली तथा अनेक प्रकार के नवीन साधनों का आविष्कार निरन्तर होते रहने से अनेक ऐसे सुभीते भी प्रस्तुत हो गए जिनसे प्रभावित हुए बिना हमारे साहित्य का कोई भी अंग नहीं बच सकता। साहित्य की उन्नति चाहने वाले विद्वान समालोचक को इन महत्वपूर्ण बातों की ओर बिना दृष्टिपात किये अपनी कसौटी का प्रयोग करना निरर्थक नहीं तो अपूर्ण तथा अनुपयोगी अवश्य कहा जायेगा। इस दशा में समालोचना क्षण-स्थायिनी भी होगी।

४. समालोच्य ग्रंथों की मौलिकता

साहित्यिक समालोचना के मुख्य विषय ग्रंथकार की रचना का गुण-दोष विवेचन तथा उसकी प्रतिभा का विश्लेषण मात्र समझे जाते हैं। केवल इन्हीं दो बातों को ध्यान में रखते हुए हम आजकल समालोचना के लिए अपनी लेखनी उठाया करते हैं। परन्तु समालोचन-कला की परिधि के अन्तर्गत आने वाली अन्य व्यापक वस्तुओं को, यदि हम छोड़ भी दें तो भी हमारी वर्तमान समालोचना-पद्धति, केवल संकुचित अर्थ में भी, दोष-रहित नहीं है। रचना-विशेष को हाथ में लेते ही हमारे समालोचक बहुधा यही सोचने लगते हैं कि समालोच्य ग्रंथ के विषय का संभवतः कौन-सा आधार हो सकता है। ग्रंथ का मौलिक होना अथवा किसी अन्य का अनुकरण मात्र होना ये दो बातें एकदम विरुद्ध अवश्य हैं और इसका भी निर्णय करना प्रत्येक समालोचक का कर्तव्य है। किन्तु मौलिकता और अनुकरण इन दो

शब्दों का कदाचित् वही अर्थ नहीं है जिससे प्रेरित होकर हम बहुधा चोरी निकालने का यत्न किया करते हैं। संसार में ऐसी रचनाएँ बहुत कम मिलेंगी और कड़ी छानबीन करने पर कदाचित् कोई भी न मिले जो एकदम मौलिक हो। बड़ी से बड़ी कृतियों पर भी पुराने अथवा समसामयिक ग्रंथों की छाप स्पष्ट दीख पड़ती है। और क्या शेक्सपीयर, कालिदास अथवा तुलसीदास तक की सर्वप्रिय रचनाएँ इससे बच नहीं सकतीं। भाषा और भाव का साम्य तो साधारण-सी बातें हैं शैली तक में अनुकरण का पता ढूँढने वाले लगा ही लेते हैं। इस दशा में दो-चार अवतरणों की बानगी देकर किसी ग्रंथ को अनुकरण मात्र कह देना अथवा उसे रद्दी की टोकरी में फेंक देने के योग्य ठहराना समालोचक की ही योग्यता में सन्देह उत्पन्न करता है। उपन्यास, नाटक, जीवन-चरित्र आदि ग्रंथों में हमारे वर्तमान समालोचक कथानक उसके प्रवाह, चरित्र-चित्रण आदि में अनुकरण दिखलाते हैं। कहते हैं कि यदि अमुक ग्रंथ का कथानक समालोच्य ग्रंथ के कथानक से मिल गया अथवा दो भिन्न-भिन्न कथानकों का विकास लगभग एक ही प्रकार का दिखलायी पड़ा एवं यदि दो भिन्न-भिन्न चरित्रों के चित्रण में किसी प्रकार का साम्य प्रतीत हुआ तो दूसरा ग्रंथ पहले ग्रंथ का केवल अनुकरण मात्र है उसे मौलिक कहना तथा उसके रचयिता को उस रचना के लिए शाबाशी देना निरी मूर्खता है। परन्तु क्या वास्तव में, बात ऐसी ही है ? क्या दो भिन्न-भिन्न लेखकों के मस्तिष्क में लगभग एक ही प्रकार की कल्पना का प्रदुर्भाव होना कोई असंभव-सी बात है ? क्या भावों की भी भिड़न्त नहीं होती ? और क्या सभी प्रकार के साम्य का अर्थ अनुकरण मात्र ही है ? कवि या लेखक चाहे वह किसी भी श्रेणी का हो अपनी परिस्थिति के प्रभावों से बच नहीं सकता और न अपना मस्तिष्क अथवा हृदय अपने अध्ययन किये हुए ग्रंथों की भावनाओं से एकदम खाली ही कर सकता है। मौलिक से मौलिक रचनाओं का निर्माण करते समय बहुत से भाव उसके हृदय में बिना बुलाये आ जाते

हैं। वे एकाएक इस प्रकार जाग्रत हो उठते हैं मानों स्वयं रचयिता की दृष्टि में भी एकदम अपरिचित से ही हों। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने पर कदाचित् कोई भी ऐसा ईमानदार व्यक्ति नहीं मिल सकता जो अपने प्रत्येक भाव का आधार किसी पूर्व परिचित भावों के संग्रह में से टटोल कर न निकाल सकता हो। भावना का निर्माण एक ऐसी क्रिया द्वारा होता है जो परिणाम निकालने पर कार्य-कारण के बीच कोई भेद नहीं रहने देती और उसका विश्लेषण बिना निपुणता के किसी प्रकार नहीं हो पाता।

समालोचकों का इस प्रकार की बारीकियों का दिखलाना कभी-कभी अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन की दृष्टि से भी हुआ करता है। हिन्दी के बहुत-से उपन्यासों तथा नाटकों की समालोचना पढ़ते समय हम बहुधा देखा करते हैं कि समालोचक ने बहुत-सी ऐसी भारी पुस्तकों का हवाला देना उचित समझा है जिसका ज्ञान भी संभवतः रचयिता को नहीं होगा। उसे देखने अथवा पढ़ने की कौन कहे कितने कवि अथवा लेखक अनेक प्रेसों अथवा प्रकाशनों द्वारा अनुदिन प्रकाशित होती रहने वाली पुस्तकों की ढेर से बहुधा अपरिचित रह जाते हैं और बहुत-से तो उनके प्रकाशन का संवाद सुनकर भी कई कारणों से उन्हें पढ़ नहीं पाते। ऐसी दशा में बारबार उन ग्रंथों का हवाला देना तथा चारों ओर से तोड़-मरोड़ कर बिना किसी प्रकार का उचित निर्णय किये समालोच्य ग्रंथ को अनुकरण मात्र बतला देना ज्यादती के सिवाय और कुछ नहीं कहा जा सकता। कहा जाता है कि कई एक ऐसे समालोचक बहुधा समालोच्य ग्रंथ के रचयिता के साथ व्यक्तिगत अथवा दलगत द्वेषादि के कारण भी किया करते हैं। ऐसे समालोचकों के विषय में साहित्यिक दृष्टि से क्या कहा जाय इसका पता नहीं चलता। यदि कला, साहित्य, विज्ञान आदि व्यापक विषयों में सर्वदा लगे रहने तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले शिक्षित मनुष्य भी अपनी निम्न श्रेणी की भावनाओं को दूर नहीं कर

सकते तो उसे अन्धेर के सिवाय और क्या कहा जा सकता है ? सांसारिक जीवन के प्रभाव में आकर साहित्यिक जीवन को कलुषित कर देना एक ऐसा पाप है जिसके रहने से साहित्य-सेवा मलिन वृत्ति की ही श्रेणी में आकर रह जाती है। ऐसे साहित्य-सेवियों से देश तथा संसार का कभी कल्याण नहीं हो सकता।

५. ग्रंथकार की प्रतिभा का विश्लेषण

कहते हैं किसी कविता को पूर्ण रूप से समझने के लिए यह जानना बहुत आवश्यक है कि कवि ने उसकी रचना के समय किन परिस्थितियों में अपने को रखा था। वातावरण की जानकारी पाठक अथवा समालोचक की दृष्टि पर एक प्रकार के चश्मे का काम देती है और इस कारण रचना के रहस्य का वास्तविक रूप समझने में अधिक कठिनाई नहीं आ पाती। प्रसिद्ध फ्रेंच समालोचक सैंत ब्यव (Sainte Beuve) अपनी समालोचना लिखने के पहले समालोच्य ग्रंथों का अध्ययन पूर्ण रूप से करता था, किन्तु अपनी इस तैयारी की पूर्ति तब तक नहीं समझता था, जब तक वह रचयिता के सम्बंध में भी पर्याप्त जानकारी न प्राप्त कर ले। इस जानकारी पर ही उसके द्वारा किया हुआ ग्रंथकार की प्रतिभा का विश्लेषण बहुत कुछ अवलम्बित रहता था। ग्रंथकार के समूचे रूप की तुलना जब तक उसके समालोच्य ग्रंथ में प्रतिबिंबित रूप से नहीं की जाती, तब तक उसकी प्रतिभा का असली रूप नहीं दीख पड़ता। जिसकी जैसी योग्यता होगी वैसी ही उसकी पहुँच भी किसी विषय में हो सकती है। इस कारण किसी रचयिता को बिना ध्यान में रखे ऊँचा वा नीचा समझ लेना ठीक नहीं। एक के लिए जो आदर्श लागू है वह दूसरे की तोल में काम नहीं आ सकता। इसके सिवाय किसी भी रचयिता का एक ग्रंथ उसकी प्रतिभा का पूर्ण प्रतिबिंब धारण करने में बहुधा असमर्थ होता है। इस बात को ध्यान में न रख

कर ग्रंथकार की केवल थोड़ी-सी ही रचनाओं के बल पर उसे कोई स्थान दे देना उचित निर्णय नहीं कहा जा सकता। ऐसा करना एक अंग के सहारे सारे शरीर का हाल बतलाने के बराबर होगा जो अधिक-से-अधिक अनुमान मात्र करने के सिवाय और कुछ नहीं।

किन्तु प्रत्येक विषय अथवा ग्रंथ अपने में अवश्य पूर्ण है और केवल उसी की जाँच-पड़ताल करने पर हम एक निर्णय चाहे वह अन्य दृष्टियों से पूर्ण न भी हो, अवश्य कर सकते हैं। वह निर्णय अपनी परिधि के अन्तर्गत उपयोगी भी होगा। कठिनाई केवल इसी बात में है कि अपना विचार प्रकट करते समय ऐसी दशाओं में हम बहुधा अपनी सीमा को दृष्टि में रखना भूल जाया करते हैं। ग्रंथकार की प्रतिभा बहुधा बहुमुखी होने के कारण, एक ओर अपना झुकाव दिखलाती हुई भी भावनाओं के पंचमेल के झमेले में कई रूप धारण करती जान पड़ती है। समालोचक विस्तार के बहकावे में पड़कर अपनी सीमा लाँघ जाता है। एक ही विषय पर और वह भी नियमों की रक्षा करते हुए उचित विचार प्रकाशित करना वास्तव में विरले ही समालोचक का काम है। क्योंकि जब देखते हैं कि भौतिक पदार्थों की तौल-जाँच करते समय भी हम बिल्कुल ठीक-ठीक निर्णय करने में असमर्थ हो जाते हैं तो फिर प्रतिभा की किरणों को दोष रहित परीक्षा कोई कैसे कर सकता है। आवश्यकता केवल इतनी ही है कि इस सिद्धान्त को समझते हुए भी कि कला के साथ नीति का घनिष्ट सम्बंध है और इस कारण ग्रंथकार की रचना सम्बंधी बातें उसके सामाजिक व्यक्तित्व पर बहुत कुछ आश्रित रहा करती हैं इस महत्वपूर्ण नियम को न भूल जाय कि साहित्यिक व्यक्तित्व और सामाजिक व्यक्तित्व दोनों ठीक एक ही वस्तु नहीं भी हो सकते हैं। दो वस्तुओं का आपस में थोड़ा-बहुत साम्य दीख पड़ना अथवा उनका एक दूसरे पर कुछ-कुछ अवलम्बित तक भी हो जाना उन्हें अभिन्न कदापि नहीं बना सकता। संसार के कई साहित्यों के इतिहास हमें

यह पता देते हैं कि उनके ग्रंथों के रचयिताओं का एक बहुत बड़ा अंश इसका प्रमाण सदा से बना रहता आया है।

ग्रंथकार की प्रतिभा का विश्लेषण करने पर हम बहुधा किसी दूसरे ग्रंथकार की योग्यता से उसकी तुलना आरम्भ करते हैं और हमसे यहाँ भी कई भूलें हो जाती हैं। यदि हम किसी एक ही साहित्य की दो भिन्न-भिन्न, किन्तु विषयादि की दृष्टि से एक समान कही जाने वाली, रचनाओं को तुलना करने लगें तो जान पड़ेगा कि उन दोनों के रचयिताओं के विषय में कुछ स्पष्ट निर्णय करना बहुत कठिन है। एक तो दोनों के विषयादि के एक ही होने पर भी, लेखकों की दृष्टियों के अनुसार ही उनकी रचना की गई होगी। दूसरे यदि दोनों दृष्टियाँ भी एक ही प्रकार महत्वपूर्ण हो जायँ तो भी उनकी परिस्थितियों के प्रभाव अनेक प्रकार की अड़चनें उत्पन्न कर देंगे। यह कार्य तब और भी कठिन हो जाया करता है, जब कोई समालोचक दो एकदम भिन्न-भिन्न साहित्यों के महारथियों को तुलना करने लगते हैं। हाँ, हम यह मानने के लिए तैयार हैं कि तुलना के लिए समानता के ही समान, असमानता भी अपेक्षित हुआ करती है। इन दोनों का उचित सामञ्जस्य ही वास्तव में आवश्यक है, किन्तु हमारा उद्देश्य समालोचना को असम्भव बतलाने का नहीं, किन्तु उसे कठिनाइयों से पूर्ण सिद्ध करने का है। हमारी वर्तमान समालोचना-पद्धति जिन बातों के कारण अपूर्ण कहला रही है हम उन्हीं की ओर अपने समालोचकों का ध्यान आकर्षित मात्र करना चाहते हैं। इनसे परिचय पा लेने पर ही हम अपना आदर्श ठीक कर सकेंगे।

६. आलोचना अथवा साहित्यावलोकन

साहित्यिक समालोचना अपने उद्देश्यानुसार कई प्रकार की हो सकती है। जहाँ पर समालोच्य ग्रंथ की साधारण परीक्षा करने पर ही उसके

विषय में अपनी सम्मति निश्चय करके समालोचक सर्व-साधारण को उसका महत्व सूचित कर देना चाहता है, वहाँ समालोचना जनता के लिए एक विज्ञप्ति मात्र से अधिक नहीं होती। उसे बहुधा साहित्यावलोकन के नाम से पुकारा करते हैं। ऐसी आलोचना अथवा सूचना से अभिप्राय यह होता है कि अमुक ग्रंथ का प्रकाशन अथवा नवीन संस्करण अभी हाल में ही हुआ है। उसके लेखक तथा प्रकाशक के ये नाम हैं, उसका मूल्य इतना है और वह अमुक स्थान से मिल सकता है। इन आवश्यक बातों के सिवाय उस सूचना में केवल इतना और रहा करता है कि वह ग्रंथ देखभाल करने पर अमुक श्रेणी का जान पड़ता है। इसमें संक्षेपतः अमुक-अमुक बातें लिखी हुई हैं उसकी भाषा, भाव अथवा शैली अमुक प्रकार की है। उसका स्वागत, सत्कार अथवा तिरस्कार आलोचक की दृष्टि में अमुक प्रकार से होना चाहिए। ऐसी समालोचनाएँ दैनिक, साप्ताहिक, आदि सामयिक पत्रों में निकलती हैं और बहुत-सी मासिक अथवा त्रैमासिक पत्रिका तक इस सीमा से अधिक बढ़ने का विचार नहीं किया करतीं। विदेशों के विशेष-विशेष पत्रों में इनका कलेवर कुछ अधिक भी हो जाया करता है। कितने पत्र तो केवल इतने ही कार्य के लिए निकला करते हैं। विदेशों के साहित्यिक इस छोटी आलोचना को भी कितना महत्व दिया करते हैं यह बात इससे और भी सूचित होती है कि प्रत्येक पुस्तक की आलोचना उसके विशेषज्ञ ही किया करते हैं। उनकी उस छोटी-सी सूचना से भी यह पूर्ण रूप से प्रकट हो जाता है कि समालोच्य वस्तु के वास्तविक गुण और अवगुण क्या हैं।

परन्तु हमारे यहाँ इस बात का विचार कम किया जाता है। यहाँ न तो समालोचक प्रस्तुत विषय को भली भाँति पढ़ लेने का ही कष्ट उठाता है और न महत्वपूर्ण अथवा आवश्यक बातें किसी नपी-तुली रीति से व्यक्त ही करता है। वास्तव में, वह इस कार्य को एक गम्भीर और दायित्व का कर्तव्य समझकर इसमें अपना हाथ नहीं डालता। उसके

लिए यह एक मनोरंजन की सामग्री है जिसे दूर बैठा हुआ कोई व्यक्ति देख कर मनमानी सम्मति दे दिया करता है। साहित्यावलोकन-कर्त्ता को यह भली भाँति समझ लेना चाहिए कि जिस वस्तु पर वह दृष्टिपात कर चुका है उस वस्तु का उसी द्वारा प्रकट किये गए शब्दों के आधार पर कोई मूल्य निर्धारित हो रहा है। पाठक यह समझ सकता है कि वह किसी अच्छी कसौटी पर कसे गए सोने को ही खरीद रहा है। इस कारण, वह अवश्य ही खरा उतरेगा। जो निर्णय बड़ी-बड़ी समालोचनाओं के पढ़ने पर किया जाता है वही यदि थोड़े-से शब्दों द्वारा सुगमता पूर्वक न किया जा सके तो फिर कोरी साहित्य-सूचना की कोई आवश्यकता नहीं। उसके लिए सूचीपत्र ही काफ़ी है। बड़ी और छोटी समालोचनाओं में आदर्श रूप से यह अन्तर होना चाहिए कि उनमें लेखकों ने अपने समालोच्य ग्रंथ का पूर्ण अध्ययन अवश्य किया है। किन्तु वे दोनों जिस निर्णय पर पहुँचे हैं उसकी अभिव्यक्ति एक पूरा प्रमाण देकर करता है, तो दूसरा स्थान और समय के बचाव की दृष्टि से ऐसा करना आवश्यक नहीं समझता। अतएव एक प्रकार से यदि देखा जाय तो, आलोचना का कार्य समालोचना से कठिन है, क्योंकि बिना किसी आधार की ओर निर्देश किये निर्णय करना अधिक दायित्व पूर्ण होता है। अवलोकन अथवा दृष्टिपात का अभिप्राय इस दृष्टि से सिंहावलोकन अथवा आँख उठाकर देख लेने मात्र से ही नहीं, अपितु किसी योग्य व्यक्ति द्वारा परिमित काल में ही निरीक्षण का होना तथा उसके अनुसार परिमित शब्दों में ही समालोच्य वस्तु के वास्तविक उत्स का उद्घाटन करना भी है। सूचना मात्र देने का कार्य भी इसके साथ अवश्य सम्मिलित रहता है और यह बात बड़ी-बड़ी समालोचनाओं में नहीं रहा करती।

पुस्तकों के लेखक अथवा प्रकाशक और विक्रेता भी इसी अर्थ पर अवलम्बन करके आलोचकों की सम्मतियाँ अपनी पुस्तक के विज्ञापनों में उद्धृत किया करते हैं। पाठक अथवा ग्राहक इन सम्मतियों का मूल्य भी

यही सोचकर लगाता है कि अमुक व्यक्ति की दी हुई राय केवल दृष्टिपात मात्र के ही आधार पर आश्रित नहीं है, अपितु जो कुछ लिखा गया है वह सोच-समझ कर और अपने दायित्व का विचार करते हुए ही लिखा गया है अन्यथा उनका कोई मूल्य नहीं। उपर्युक्त सभी बातों को दृष्टिगत रखते हुए यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि व्यावहारिक विचारों से साहित्यालोचन अथवा आलोचना का महत्व बड़ी-बड़ी समालोचनाओं से किसी प्रकार कम नहीं।

७. साहित्यिक समालोचना

विस्तृत समालोचना अपने उद्देश्य के अनुसार पूर्ण अथवा अपूर्ण कही जा सकती है। पूर्ण समालोचना से समालोच्य ग्रंथ के प्रत्येक अंग पर विवेचन करने से तात्पर्य है और अपूर्ण समालोचना केवल कुछ ही विषयों पर विचार करने के उपरान्त समाप्त हो जाती है। उदाहरण के लिए यदि ग्रंथ दार्शनिक हो और उसकी पूर्ण समालोचना करनी है तो सर्व प्रथम उसमें प्रतिपादित सिद्धान्तों के ऐतिहासिक विषय की चर्चा करेंगे और यथासम्भव उसके अन्तर्गत आने वाली समस्याओं अथवा गुत्थियों का पदे-पदे विवेचन करते हुए आगे बढ़ेंगे। इस प्रकार पाठकों की मनोदशा को प्रस्तुत विषय पर विचार करने की ओर प्रेरित करने के उपरान्त समालोच्य ग्रंथ का एक विश्लेषणात्मक परिचय देंगे तब उसके एक-एक अंश का स्पष्टीकरण तथा अपने निबन्ध के पूर्वभाग में ही किसी न किसी प्रकार संकेत किये आदर्श के अनुसार उसका विवेचन करेंगे। इसके सिवाय बीच-बीच में यथास्थान भिन्न-भिन्न मतों अथवा दार्शनिकों से तुलना भी करते जायेंगे। अन्त में अपना उपसंहार देंगे जिसमें पूर्व कथित विचारों का दिग्दर्शन कराते हुए लेखक की योग्यता अथवा पहुँच, उसकी मौलिकता आदि की जाँच करने के उपरान्त उसकी शैली, सफलता तथा अन्य आवश्यक गुण-दोषों का विवेचन करेंगे। इस प्रकार उसका अन्य समाप्त

ग्रंथों के मध्य एक स्थान निश्चित होगा। अपूर्ण समालोचना में उपर्युक्त बातों में से केवल एक का विवेचन हो सकता है अथवा एक से अधिक का। साहित्यिक ग्रंथ की पूर्ण समालोचना में, इसी प्रकार सर्व प्रथम, यदि पुस्तक प्रबन्धात्मक अर्थात् नाटक, उपन्यास आदि की श्रेणी का हो तो कथानक का निर्देश करेंगे, उसे शृंखलाबद्ध करेंगे और तब लेखक द्वारा किये गए खण्डों को उसके अनुमानित उद्देश्य तथा आदर्श के अनुसार तौलेंगे, उस क्रिया का कला के उच्च सिद्धान्तानुसार, औचित्य अथवा अनौचित्य दिखलायेंगे। कथानक के प्रवाह अथवा विकास की स्वाभाविकता पर फिर विचार करेंगे और ऊपर से लाये गए विचार के महत्व का विवेचन किया जायेगा। चरित्र-चित्रण की जाँच प्रारम्भ होगी और यथासम्भव इस कार्य में कुछ विशेष रूप से लेखक की निपुणता पर विचार किया जायेगा। फिर भाषा शैली, रस, अलंकार, व्याकरण आदि सभी विषयों पर भी विचार होगा। अन्त में एक उपसंहार देकर उसमें ऊपर की दी गई बातों को संक्षेप में एक बार फिर से स्पष्ट किया जायेगा। इस प्रकार उसका अन्य सामान ग्रंथों के मध्य एक स्थान निश्चित होगा।

इस प्रकार की समालोचना में स्वभावतः स्थान और समय अधिक लगा करता है, क्योंकि समालोचक अपने निर्णय पर पहुँचने के मार्ग का भी दिग्दर्शन करा देना चाहता है। इस कारण, उसे पद-पद पर अपनी समीक्षा में सहायक होने वाले उदाहरणों को सबके सामने स्पष्ट करके रखना पड़ता है। ऐसी समालोचना विशेषकर उस ग्रंथ अथवा उसके लेखक की एक प्रकार से पूरी कथा हो जाती है। यदि सैद्धान्तिक दृष्टि से देखा जाय तो साहित्य के विकास तथा उसके मूल्य निर्धारण के कार्य में ऐसी ही समालोचना महत्व पूर्ण कही जा सकती है। इस समालोचना में, यद्यपि पुस्तक के रचयिता, प्रकाशक अथवा मूल्य आदि की सूचना नहीं दी जाती और न उसकी ओर जब तक कोई विशेष आवश्यकता न पड़ जाय कोई संकेत ही किया जाता, तथापि विद्वत्समाज

को सन्तुष्ट करने के लिए यही नाप-तौल की क्रिया सबसे अधिक महत्व की होती है। इतिहास, विज्ञान, शिक्षा, समाज किसी प्रकार का कोई भी विषय लेकर क्यों न ग्रंथ लिखा गया हो विषयानुसार थोड़ा-बहुत अन्तर के साथ सबकी समालोचना लगभग एक ही प्रकार की होगी। दर्शन, धर्म, विज्ञान, आदि सिद्धान्त सम्बंधी ग्रंथों की समालोचना और नाटक, उपन्यास, काव्य आदि साहित्यिक ग्रंथों की समालोचना में लगभग वही मात्र अन्तर होगा जिसका ऊपर निदर्शन कराया जा चुका है। बड़ी से बड़ी समालोचना के भी वास्तव में, तीन ही खण्ड होते हैं अर्थात् पाठकों की मनोवृत्ति को प्रस्तुत पुस्तक के स्वागत के लिए तैयार करना, उसमें प्रकट किये हुए भावों तथा मार्गों को स्पष्ट कर दिखाना और अन्त में सबका उपसंहार देते हुए संक्षेप में अपने निष्कर्ष को प्रकट करना।

अपूर्ण समालोचना से, वास्तव में, किसी कमी का बोध न करके प्रतिपाद्य विषयों का बल्कि और स्पष्ट विवेचन ही समझना चाहिए। किसी ग्रंथ का अध्ययन करते समय हम उस पर बहुधा अनेक दृष्टियों से विचार किया करते हैं। उदाहरण के लिए यदि हमें रामचरितमानस का अध्ययन करना है और पढ़ते-पढ़ते हमें इस बात का विवेचन करने की आवश्यकता पड़ी कि कवि ने अपने ग्रंथ में किस प्रकार के दार्शनिक विचारों को सन्निविष्ट किया है अथवा ग्रंथ के अध्ययन द्वारा सामाजिक संवेदनाओं का पता कहाँ तक लगा सकते हैं अथवा काव्य-कला की दृष्टि से उसकी योग्यता कहाँ तक परखी जा सकती है अथवा किसी भी अन्य समान कवि के साथ तुलना करने पर उसका स्थान कहाँ निश्चित किया जा सकता है तो हम इनमें से किसी एक विषय को लेकर पूरा निबन्ध लिख डालेंगे जिसमें उस एक ही विषय का पूर्ण विवेचन होगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस एकांगी-सा दीख पड़ने वाले कार्य में भी ऊपर निश्चित किये हुए तीनों खण्डों का समावेश होगा। इस दृष्टि से

विचार करने पर समालोच्य ग्रंथ का यह विवेचन किसी प्रकार अपूर्ण नहीं कहा जा सकता। अपनी सीमा के अन्तर्गत यह किसी प्रकार अधूरा नहीं। कवियों अथवा लेखकों की पूर्ण समालोचना करने के समय बहुधा हम इन सभी बातों को ब्योरेवार दे दिया करते हैं। ग्रंथकार के विविध ग्रंथों के उदाहरण दे-देकर अपने निर्धारित विचार की पुष्टि किया करते हैं। परन्तु एक ही ग्रंथ की पूर्ण समालोचना में कभी-कभी इनका समावेश करना लोग उचित नहीं समझते और इसका कारण कदाचित् विषयों की कमी अथवा समालोचक की इच्छा के सिवाय कुछ नहीं होता। समालोच्य ग्रंथ यदि पूर्ण है तो उसकी समालोचना और किसी लेखक की समालोचना में सम्भवतः कोई विशेष अन्तर नहीं हो सकता और न इन दोनों के एकांगी विवेचन में ही किसी प्रकार की भिन्नता आ सकती है। यों तो यदि किसी भाषा के सम्पूर्ण साहित्य का भी विवेचन होने लगे तो समालोचक इन बातों के विकसित होते हुए रूपों का यथास्थान साधारण रीति से स्पष्टीकरण कर भी सकता है।

८. साहित्यिक रसास्वादन

साहित्यिकों का एक समुदाय ऐसा भी हुआ करता है जो ग्रंथों की समालोचना करते समय बहुधा इस बात की परवाह नहीं करता कि पाठक इस कार्य से कोई लाभ उठायेगा या नहीं। इस कारण, उसकी समालोचनाएँ अधिकतर स्वाध्याय अथवा मनोरंजन की ही सामग्री हुआ करती हैं। यत्र-तत्र उनमें व्यक्तिगत रुचि एवं अरुचि की गन्ध का आभास मिलता है और वर्णन विशेषतः समालोच्य ग्रंथ अथवा कवि के गुणों के ही विषय में हुआ करता है। बुराइयों की परवाह कम की जाती है। ऐसी समालोचनाओं में इन्हीं कारणों से नियमों का अधिक पालन भी नहीं रहा करता और बहुधा बहुत-सी ऐसी बातों तक का समावेश जाता है जिनका प्रस्तुत विषय से एकदम सम्बंध नहीं प्रतीत होता। भाषा

में इसकी अधिक लच्छेदार हुआ करती है और कल्पना का अंश कुछ अधिक होने के कारण कभी-कभी समालोचक सिद्धान्तों के भी स्पष्ट करने में अपना बहुत-सा समय लगा देता है। ऐसी समालोचना को अथवा साहित्यिक अभिशंसन कहा करते हैं और यह विशेषकर विदेशी साहित्यों में ही अधिकतर दिखलायी देता है। बहुत- से साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में जो मासिक अथवा साप्ताहिक रूपों में निकला करते हैं, एकाध उदाहरण वहाँ अवश्य देखने को मिलते हैं। कभी-कभी तो बड़े-बड़े साहित्य-महारथी अपनी स्मृतिमूलक निबन्ध मालाओं में ऐसी समालोचनाओं को अवश्य ही स्थान दे दिया करते हैं। नवीन ग्रंथों अथवा संस्करणों को प्रकाशित कराते समय उनके लेखक अथवा प्रकाशक कभी-कभी पुस्तक के आरम्भ में ही कुछ लिखा लिया करते हैं जो बहुधा भूमिका, उपोद्घात, परिचय आदि नामों से पुकारा जाता है। ऐसे छोटे या बड़े लेख भी एक प्रकार से साहित्यिक रसास्वादन के ही उदाहरण हैं। कितनी साहित्यिक जीवनियाँ भी कुछ ऐसे ही आशय से लिखी जाती हैं। इन सबके देखते ही जान पड़ता है कि लेखक किसी न किसी प्रकार अपना निजी अनुभव दे रहा है।

जिस प्रकार आलोचना की प्रवृत्ति विशेषतः जनता की ओर और समालोचना की ग्रंथ की ओर रहती है, उसी प्रकार अभिशंसन स्वभावतः समालोचक के व्यक्तित्व से ही विशेष सम्बद्ध है। यही कारण है कि विस्तृत समालोचना जिन-जिन विषयों का किसी नियमपूर्वक उल्लेख करती तथा उन पर अपनी सम्मति दिया करती है उन सभी का विस्तृत रूप से विवेचन करना रसास्वादन में आवश्यक नहीं हुआ करता। इसमेंसमालो-चक अपनी रुचि के अनुसार व्यवहार करने में अधिक स्वतंत्र रहा करता है। उसे प्रस्तुत ग्रंथ अथवा लेखक को सम्पूर्ण रूप से दरसाने की कोई आवश्यकता नहीं। वह तो अपने समालोच्य विषय के जिस पहलू को अपनी दृष्टि के अनुसार सबसे महत्वपूर्ण समझता है, उसी मात्र का

विवेचन भी करता है। एक प्रकार से परिचय-सम्बंधी निबन्ध, विस्तृत समालोचना से अधिक, आलोचना से ही समानता रखते हैं, क्योंकि इनमें भी परिचायक अपनी दी हुई सम्मति द्वारा समालोच्य विषय को सर्व-साधारण के सामने रखता है और उनको अपनाने के लिए धीरे से अनुरोध कर देता है। एक अंश अथवा परिमित अंशों पर विचार करने के साथ ही उसके लिए यह परमावश्यक है कि अपने समालोच्य विषय के वास्तविक मार्ग का भी वह पाठकों को थोड़ा-बहुत परिचय करा दे। साहित्यिक आत्म-कथाओं में कभी-कभी ऐसे प्रसंग आ जाते हैं, जहाँ ग्रंथकार अपने जीवन पर सबसे अधिक प्रभाव डालने वाली पुस्तकों का उल्लेख करता है और उनके साथ आत्मीयता का सम्बंध हो जाने के कारण विशेष आवेश में आकर उनकी प्रशंसा करने लगता है। परन्तु इतना अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि एक ही वस्तु सबके लिए समान रूप से रुचिकर नहीं हुआ करती और न एक ही प्रकार सबको लाभ पहुँचा सकती है, अतएव इस विषय में दी हुई बड़े-बड़े लोगों की भी सम्मतियाँ हमारे लिए किसी परिमित रूप में ही उपादेय हैं। चुने हुए सर्वोत्तम ग्रंथों के विषय में भी यही समझना चाहिए। कुछ भी हो साहित्यिक अभिशंसन, समालोचक की स्वतंत्रता और आत्मीयता उसकी भाषा में तदनुसार ही आ जाने वाला सजीला और चटकीलापन, उसकी शैली की प्रौढ़ता और अनियंत्रितता तथा परिणामतः उत्साहित होकर वेग के साथ सदा उठती रहने वाली भावना-लहरियों की छटा के कारण साहित्यिकों के लिए बड़ा ही मनोरंजक हुआ करता है।

परन्तु हमारे यहाँ ऐसी समालोचनाओं का कम प्रचार है हिन्दी में तो इनकी संख्या कदाचित् इनी-गिनी ही है। वह भी अधिकतर ग्रंथों के आदि में लिखे गए परिचयों के ही रूप में दीखती है। साहित्यिक आत्म-कथा का अधिकतर अभाव-सा है और वैसी साहित्यिक-पत्रिकाओं का भी लगभग वही हाल है जिनमें इस श्रेणी के एकाध लेख कभी-कभी मुल-

भटके निकल आते हों। मेरे देखने में जो अभी तक दो-चार आये हैं उनमें कई बातों की कमी है। भावों की सुकुमारता, भाषा की सुन्दरता, वर्णन-शैली की प्रौढ़ता अथवा अनुभवजन्य तन्मयता इन सबका कुछ-न-कुछ अभाव-सा है। निजी अनुभवों का वर्णन और वह भी यदि विषय सुकुमार हो तो बहुधा ऐसा हो जाता है जिसमें पदे-पदे आवश्यकता से अधिक रंग चढ़ जाने का भय बना रहता है। भावों में आवेश की मात्रा बढ़ जाती है। शैली संयत नहीं रह पाती। भाषा में अनावश्यक वृद्धि की झलक दिखलायी पड़ने लगती है। हमारे परिचायक महाशय इस ओर अभी विशेष ध्यान देते हुए नहीं जान पड़ते और इसका कारण कदाचित् इस कला की नवीनता है। सम्भव है इसमें सुधार शीघ्र हो जाय।

९. तुलनात्मक समालोचना

प्रकृति का यह अटल नियम है कि कोई भी दो वस्तुएँ ठीक एक ही प्रकार की नहीं हो सकतीं। कुछ-न-कुछ अन्तर अवश्य होगा। प्रस्तुत वस्तु यदि कोई भौतिक पदार्थ है तो उसकी लम्बाई, चौड़ाई, तौल, रंग आदि गुण एवं अवगुण किसी भी दूसरे वैसे ही भौतिक पदार्थ के गुणावगुणों के ठीक समान नहीं होंगे और न किसी एक भाव विशेष के कारण, रूप, प्रभाव अथवा निदर्शन आदि ही ठीक एक ही प्रकार के होंगे। दोनों प्रकार के कोई भी जोड़े किसी-न-किसी अनुभव में अथवा किसी-न-किसी दृष्टि से अवश्य ही भिन्न-भिन्न होंगे। इस कारण दो वस्तुओं की तुलना करके उनमें समानता दिखलाना और उन्हें आपस में एक ही प्रकार की बतलाना केवल आंशिक रूप में ही सत्य कहा जा सकता है। कोई भी वस्तु पूर्ण रूप से समान नहीं। इसी प्रकार यदि देखा जाय तो एक प्रकार से कोई दो वस्तुएँ एकदम भिन्न-भिन्न नहीं मिल सकतीं। कोई-न-कोई समानता अवश्य होगी। फलतः समानता और असमानता की बातों में हम केवल

श्रेणियों की ही दृष्टि से विचार कर सकते हैं, पूर्णता की दृष्टि से नहीं। उदाहरण के लिए यदि दो पुस्तकें हमारे सामने समानता अथवा असमानता दिखलाने के लिए रख दी जायँ तो इन दोनों में से किसी दृष्टि से निर्णय करते हुए हम यही कह सकते हैं कि अमुक पुस्तक दूसरी पुस्तक के साथ इतने अंशों में समानता रखती है अथवा वह अमुक सीमा तक उससे भिन्न है। इससे अधिक हम इस विषय में कहने का कोई भी अधिकार नहीं रखते और न उसकी कोई गुंजाइश ही है। हाँ, पुस्तकों की तुलना करते समय हमारे सामने एक दूसरा प्रश्न अवश्य उठ सकता है। वह यह कि अमुक पुस्तक का विषय अथवा ढंग उस दूसरी पुस्तक का अध्ययन करने पर ही उसमें समाविष्ट हुआ है अथवा कभी-कभी यहाँ तक भी नौबत आ जाती है कि एक पुस्तक के बहुत-से अंश दूसरी पुस्तक में ज्यों के त्यों उद्धृत किये पाये जाते हैं तो क्या इन दोनों पुस्तकों में समानता नहीं है? प्रश्न के पहले अंश के सम्बंध में तो हम उपर्युक्त नियमानुसार श्रेणी बाँधने के लिए अवश्य यत्न करने लगते हैं, किन्तु दूसरे अंश के विषय में हम तुलना कर ही नहीं सकते। वहाँ पर मौलिकता अथवा अनुकरण से सम्बंध रखने वाला एक दूसरा प्रश्न ही आ खड़ा होता है और वह तुलनात्मक समालोचना से बहुत बातों में भिन्न है।

तुलनात्मक समालोचना से हमारा अभिप्राय उस विवेचन से है जिसके द्वारा हम दो समान अथवा भिन्न-भिन्न दीख पड़ने वाले ग्रंथों वा ग्रंथकारों की क्रमशः भिन्नताओं तथा समानताओं का अन्वेषण कर उनका आपस में मिलान करते हैं और भाषा-भाव आदि की दृष्टि से विचार करते हुए अपने समालोच्य वस्तु का महत्व निर्धारित किया करते हैं। तुलनात्मक समालोचना का उद्देश्य दो वस्तुओं की जाँच करके उनके लिए वास्तविक स्थान निश्चित करना तथा उनकी पारस्परिक श्रेष्ठता अथवा हीनता दिखलाना है। इस कारण आवश्यक है कि

दोनों वस्तुओं की परीक्षा पहले अलग-अलग की जाय उनके गुणावगुणों का निरीक्षण, विश्लेषण तथा वर्गीकरण हो और तत्पश्चात् उनकी उत्कृष्टता अथवा निकृष्टता दिखलायी जाय। ये बातें तुलनात्मक समालोचना के सुगम तथा सुख-साध्य अंश हैं। इसकी कठिनाइयों का पता हमें तब लगता है, जबकि समालोच्य लेखकों अथवा ग्रंथों की गहरी परीक्षा करके कोई दोषहीन निर्णय पर पहुँचने के लिए हम उनकी भिन्न-भिन्न परिस्थितियों का निरीक्षण करना आरम्भ करते हैं। हमारी समालोचना के विषय यदि किसी एक ही भाषा के दो कवि अथवा ग्रंथकार हों और एक ही प्रकार के विषय उनके ग्रंथों में समाविष्ट किये गए हों अथवा कम से कम विभिन्न चरित्रों के चित्रणों में ही कोई समानता दीख पड़ती हो तो ऐसी अवस्थाओं में परीक्षा करते समय भी यह समस्या आ उठेगी कि अमुक रचयिता की प्रतिभा को उनकी भिन्न-भिन्न परिस्थितियों ने कहाँ तक लाभ अथवा हानि पहुँचाने में भाग लिया। ऐसा न करना एक अत्यन्त आवश्यक तथा महत्वपूर्ण अंग से आँख बचाना है। वैज्ञानिक अन्वेषणों के परीक्षक यह भली भाँति जानते हैं कि किसी परिणाम पर असंदिग्ध रूप से निर्णय करने के लिए वैज्ञानिकों को किसी न किसी प्रकार से भी भ्रान्ति में डाल सकने वाली भावनाओं से पहले सावधान हो लेना चाहिए। इन्हें बहुधा वे 'प्रभाव ग्रहण-शक्ति की न्यूनता' (Personal Equation) के नाम से पुकारते हैं। ग्रंथकारों की परिस्थितियों की भिन्नता भी इसी प्रकार स्वतंत्र निर्णय में बाधक हो जाया करती है, क्योंकि दो वस्तुओं को भिन्न-भिन्न बाँटों द्वारा तौल कर कोई निश्चित परिणाम निकालना अत्यन्त कठिन काम है।

परन्तु ऐसा समझते हुए भी बहुत-से समालोचक एकदम विभिन्न परिस्थितियों जैसे भाषा, आचरण, धर्म आदि के दो ग्रंथकारों की तुलना करने बैठ जाते हैं और दो-चार विषयों पर जाँच-बूझ की क्रिया समाप्त करके एक को दूसरे से छोटा-बड़ा बतलाने लगते हैं। ऐसा करना किसी

मर्यादित अंश में उचित और उपादेय अवश्य हो सकता है, किन्तु ऐसे निर्णय को हम सच्ची समालोचना की कसौटी का निर्विवाद निर्णय नहीं कह सकते। इसकी महत्ता केवल इसी में है कि किसी भाषा-विशेष में रचयिता की दूसरी भाषा और परिस्थिति के ग्रंथकार के समक्ष लाकर ज्ञान-विस्तार द्वारा उसके पाठकों के विचार परिमार्जित तथा मर्यादित किये जाते हैं। इसके साथ ही उनके लिए साहित्यिक मनोरंजन की पूर्ण सामग्री भी मिल जाती है। तुलनात्मक समालोचना की उपादेयता इस प्रकार परिमित होने पर भी भिन्न-भिन्न साहित्यों की एकता सिद्ध करने में भी बहुत सहायता देती है।

१०. समालोचना-क्रिया के मुख्य अंश

समालोचन-क्रिया सुभीते के लिए तीन अंशों में विभाजित की जा सकती है जिनमें से पहले को विषय-प्रवेश, दूसरे को वस्तु-मीमांसा तथा तीसरे को उपसंहार कहेंगे। इन तीनों के रूपों में भी समालोच्य ग्रंथों के विषयानुसार बहुत कुछ अन्तर आ सकता है। समालोच्य ग्रंथ का उद्देश्य यदि किसी कला अथवा विषय का प्रदर्शन मात्र है तो समालोचना एक विशेष प्रकार की होगी और वही यदि किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन हो तो समालोचना भी किसी दूसरे प्रकार की होगी। दोनों में भिन्नता अवश्य होगी और इसी कारण, उसके अंशों के रूपों में भी अन्तर अवश्य है। काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि विषयक ग्रंथों की समालोचना का विषय-प्रवेश आवश्यकतानुसार किसी संक्षिप्त परिचय के रूप में होगा। संक्षिप्त-परिचय में ग्रंथ, उसका समय, ग्रंथकार, ग्रंथाधार आदि कतिपय उन विषयों का समावेश करना पड़ता है जिनके द्वारा समालोच्य ग्रंथ की प्रमुख परिस्थितियों का कुछ न कुछ आभास हो जाय और पाठक को आगे आने वाली चर्चाओं के पूर्ण रूप से समझने में पर्याप्त सुभीता मिल जाय। सिद्धान्त प्रतिपादक ग्रंथों की आलोचना

करते समय ऐतिहासिक विकास उसी प्रकार प्रतिपाद्य सिद्धान्त के अभाव की परिस्थिति, उसका बीजारोपण, क्रम-विकास, बाधा और सहायता आदि कतिपय विषयों का विवेचन कर लेना पड़ता है जिससे अभिज्ञ हो चुकने पर पाठक आनेवाले सिद्धान्त की समीक्षा का स्वागत करने के लिए पहले से ही अपना दृष्टिकोण ठीक कर ले। संक्षिप्त परिचय के लिए बतलायी हुई उपर्युक्त बातें इसमें गौण रूप से काम किया करती हैं। दार्शनिक ग्रंथों और कभी-कभी वैज्ञानिक ग्रंथों की भी समालोचना के विषय-प्रवेश में समालोचक अपने विषय की आलोचना बहुधा इस प्रकार से करता है जिससे पाठक तद्विषय-सम्बंधी समस्याओं तथा उनके समाधानों का पदे-पदे अनुभव करता चले और परिणामतः उसे उस विषय के महत्व का ज्ञान होने के साथ-साथ उसमें रुचि की भी अभिवृद्धि हो। क्योंकि जिज्ञासा अथवा कौतूहल ही दर्शन का वास्तविक आधार है।

परन्तु समालोचना के विषय-प्रवेश में केवल उपर्युक्त बातों का ही समावेश नहीं रहता। विषय-प्रवेश वास्तव में आगे आनेवाली चर्चा की ओर संकेत करता तथा उस निर्णय का बीज वपन करता है जो सारी समालोचना का अन्तिम परिणाम हुआ करता है। विषय-प्रवेश का लिखने वाला यदि समालोचन-कला से पूर्ण अभिज्ञ हो तो अपने निबन्ध के प्रथम अंश में ही अपने समालोच्य विषय के रहस्य का उद्घाटन कर सकता है। उसके भूत-कालिक रूप का वह विवेचन करेगा, उसके वर्तमान रूप से परिचित करा देगा तथा उसकी आगामी सूरत की ओर भी निर्देश करेगा। इसके सिवाय विषय-प्रवेश ही वह स्थान है, जहाँ पर वस्तु की मीमांसा करते समय प्रसंगवश आने वाली गूढ़ बातों की पहले ही परिभाषा की जा सकती हैं, विषय का व्यापकत्व दिखलाया जा सकता तथा अपरिचित से अपरिचित पाठकों को भी अगली बातें पूर्ण रूप से समझने में सहायता देने वाले सिद्धान्त भी बतलाये जा सकते हैं।

यदि सच पूछा जाय तो यह अंश वस्तु-मीमांसा से किसी प्रकार कम नहीं।

यह सब कुछ होते हुए भी हम अपनी समालोचनाओं में इस महत्व-पूर्ण अंश का बहुधा प्रयोग नहीं किया करते। यदि वर्तमान समय में की गई हिन्दी की समालोचनाओं पर हम वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें तो उनमें से अधिकांश में मानो विषय-प्रवेश का कहीं नामोनिशान ही न मिलेगा। यदि किसी ने इस ओर कुछ यत्न भी किया होगा तो वह भी किसी ऐसे ढंग से जिससे समालोच्य विषय से कोई विशेष सम्बंध ही नहीं। कई बार तो हमने यहाँ तक पाया है किकाव्य के किसी ग्रंथ की आलोचना करते समय आरम्भ में लोग ईश्वर के गुणानुवाद तक गाने लगते हैं और सृष्टि तथा मानवी प्रतिभा की महत्ता का वर्णन करते हुए प्राचीन संस्कृत के रीति ग्रंथों में दी गई काव्य की परिभाषाओं का उल्लेख करते हैं। इसके उपरान्त ही समालोच्य ग्रंथ पर विवेचन आरम्भ हो जाता है, पता नहीं चलता कि वास्तव में कौन-सी बात किस लिए लिखी है। कभी-कभी यह भी होता है कि पुरानी परिभाषाएँ देने के उपरान्त उनका वास्तविक रहस्य न समझ सकने के कारण, बिना सिद्धान्त के सहारे चलने वाले मनुष्य की भाँति समालोचक आगे चल-कर अपनी राह एकदम छोड़ देता है। सारी समालोचना, अण्ड-बण्ड भरी बातों के आधिक्य के कारण, पागल-प्रलाप के समान व्यर्थ तथा अरुचिकर हो जाती है। अतएव समालोचक को इस विषय में विशेष सावधान होना चाहिए।

११. वस्तु-मीमांसा

समालोचन-क्रिया के विषय-प्रवेश नामक प्रथम अंश में जिस प्रकार ग्रंथों के उद्देश्यानुसार दो मुख्य भेद हो सकते हैं, उसी प्रकार वस्तु-मीमांसा ही वास्तव में समालोचना का प्रधान शरीर है। इस कारण,

इसी अंश में उसकी प्रमुख बातों का स्पष्टीकरण हुआ करता है। समालोच्य ग्रंथ यदि प्रदर्शन मूलक कोई प्रबन्ध-काव्य हो तो उसके प्रकारानुसार विभिन्न विषयों का सबसे पहले विश्लेषण और वर्गीकरण होगा और तत्पश्चात् उनमें से एक-एक को क्रमशः ले-लेकर हम अपनी जाँच आरम्भ करेंगे। प्रबन्ध-काव्य की सबसे पहली समालोच्य वस्तु उसका कथानक होता है। अतएव ग्रंथ में आधार स्वरूप काम में लायी गई कथा को उसके सिलसिलेवार ढंग से व्यक्त किया जायेगा। उसके उपरान्त कवि के मुख्य अभिप्राय का दिग्दर्शन कराते हुए कथानक को तदनुसार यथाक्रम खण्डशः बिटलाने, यत्र-तत्र आवश्यक प्रसंगों को स्थान देने तथा विविध घटनाओं की रचना द्वारा उसके विकसित करने की क्रियाओं का विवेचन होगा। कथानक के विकास की कला अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा उपयोगी होती है और इसमें तथा चरित्र-चित्रण में निपुणता प्राप्त कर लेने पर ही किसी ग्रंथ-रचयिता की असली योग्यता निर्भर रहा करती है। कथानक का विकासीकरण उस रीति अथवा ढंग का काम दिया करता है जिसके द्वारा रचयिता अपने पाठकों पर अपनी कृति का कम अथवा अधिक प्रभाव डालने में समर्थ होता है। नवीन चरित्रों तथा नयी घटनाओं का समावेश आदि बातें इस ढंग के पोषक मात्र हुआ करती हैं। समालोचक को इसकी उत्तमता अथवा निकृष्टता पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। चरित्र-चित्रण की बारी इसके बाद आती है। समालोचक प्रायः इस बात पर ध्यान देना भूल जाया करते हैं कि समालोच्य ग्रंथ के लेखक ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए कितने तथा किन-किन प्रकार के चरित्रों को स्थान दिया है और वे आवश्यकतानुसार कहाँ तक खरे उतरते हैं। सिद्धान्त यह है कि अमुक प्रकार के परिणाम अमुक-अमुक परिस्थितियों के रहते अमुक स्वभाव वाले व्यक्ति द्वारा ही घट सकते हैं और अन्यथा प्रदर्शित करने वाला लेखक अपनी कला से अनभिज्ञ है। इसी प्रकार, मानव हृदय का जानकार होने के कारण, लेखक अपने उद्देश्य की सिद्धि के निमित्त अपने चरित्रों के स्वभाव, क्रिया

अथवा संवाद को नियमानुसार मर्यादित रखने में कृतकार्य रहा है अथवा आवेश में आकर कहीं रंग चढ़ाने में भूल तो नहीं कर गया इसका भी पता लगाना समालोचक का कर्त्तव्य है।

नाटक, उपन्यास, महाकाव्य, आदि ग्रंथों के, प्राचीन तथा नवीन नियमानुसार, कई खण्ड हुआ करते हैं जिन्हें अंक, परिच्छेद, सर्ग आदि कई नामों से पुकारते हैं। इन विभागों द्वारा यह लाभ होता है कि लेखक अपने ग्रंथ के लिए उद्दिष्ट आदर्शानुसार इन भिन्न-भिन्न अंशों को संगठित करने का यत्न करता है और उन्हें ऐसे प्रबन्ध के साथ बिठलाता है जिससे कथानक की स्वाभाविकता भी सुरक्षित रहती है। पुस्तक पढ़ने वाले अथवा दृश्य देखनेवालो के मन भी नहीं ऊबते, अपितु उन पर लेखक का अभीष्ट प्रभाव जैसा चाहिए वैसा ही पड़ जाता है। समालोचक को उनके संगठन पर विशेष ध्यान देना चाहिए। उनमें से प्रत्येक को भली भाँति परख कर यह भी समझ लेना चाहिए कि किसका उपयोग कहाँ तक उचित वा अनुचित है। विभिन्न वाक्यों का संगठन, उनमें प्रयोग किये गए शब्दों का सौष्टव तथा उचित विन्यास, ग्रंथ में आये हुए चरित्रों का उनके स्वभाव तथा उनकी योग्यतानुसार काम में आने वाली शैली द्वारा उनसे आपस में संवादादि कराना, ये कुछ ऐसी आवश्यक बातें हैं जिनमें कमी आने पर सारा ग्रंथ बुरा कह दिया जाता है। ग्रंथ की लम्बाई अथवा छुटाई भी इसी सम्बंध में परखी जा सकती है। बहुत-से नाटक इतने बड़े हो जाते हैं जो उचित समय में खेले ही नहीं जा सकते और कितना ही अच्छा होने पर देखना कठिन हो जाता है। इसके सिवाय कभी-कभी नाटकों अथवा उपन्यासों में भी उनके रचयिता ऐसी घटनाओं अथवा दृश्यों का समावेश कर दिया करते हैं जो कथानक की परिस्थिति के भीतर किसी भी प्रकार घटित नहीं हो सकते। समालोचक की पैनी दृष्टि इन बातों की ओर शीघ्र पहुँचनी चाहिए। स्थान, समय अथवा अवस्था का अनौचित्य एक ऐसा दोष है जो कभी क्षमा नहीं किया जा सकता।

प्रबन्ध ग्रंथ के अतिरिक्त अन्य प्रकार के ग्रंथों के विषय में उपर्युक्त बातों के विवेचन की आवश्यकता नहीं। ग्रंथ का विषय यदि छोटी-छोटी भावना भरी कविताओं का संग्रह-मात्र है तो समालोचक को उसकी समालोचना करते समय सबसे पहले उनके रचयिता के मनोभावों का पता लगाना चाहिए जिससे एक स्थायी आधार का अवलम्ब मिल जाय। उसी के द्वारा ग्रंथकर्त्ता के उद्देश्य आदर्शादि का अनुमान करते हुए कविताओं में गुणों अथवा अवगुणों को ढूंढ़ निकालने में सहायता मिल सके। ऐसे असवरों पर समालोचक इधर- उधर बिखरी हुई मुक्ताओं में से लड़ी का अनुसंधान करते ही उनके रूप- रंग तथा मूल्य की एक-रूपता की जाँच करता है। कवि के विविध भाव उनकी उचित अभि-व्यक्ति तथा उसके मुख्य संदेश आदि बातों को अलग-अलग तौलकर उनका महत्व अथवा उनकी हीनता निर्धारित किया करता है। इसी प्रकार अन्य ऐसे ग्रंथों की भी समालोचना हुआ करती है।

१२. समालोचक का दायित्व

समालोचक का पद न्यायाधीश के पद से किसी प्रकार नीचा नहीं। जिस प्रकार एक न्यायाधीश अपने सामने आये हुए मामले को, पूर्वापर परिस्थिति की जाँच-पड़ताल पूर्ण रूप से किया करता है और तत्पश्चात् उन पर मनन एवं चिन्तन करने के उपरान्त अपनी पक्षपात रहित और न्याय सम्मत निर्णय सर्व-साधारण के समक्ष प्रकाशित कर देता है, उसी प्रकार एक सच्चे समालोचक का भी कर्तव्य है। दोनों के लिए अपने निकट उपस्थित किये गए विषय का जिस प्रकार पूर्ण परिचय अपेक्षित है, उसी प्रकार अपनी विवेचन-शक्ति तथा सहृदयता के सहारे दोष रहित सम्मति का देना भी परमावश्यक है। इस कारण, समाज को चाहिए कि इनके द्वारा किये गए निर्णय का मूल्य निर्धारित करने तथा उन्हें

प्रामाणिक समझने में दोनों का सत्कार एक ही प्रकार करें। सभ्य समाज के लिए दोनों का महत्व समान है और दोनों का दायित्व भी समान है। हम तो यहाँ तक कह सकते हैं कि यदि निम्न श्रेणी के न्यायालय न्यायाधीश को इस बात का विचार अधिक सचेत किये रहता है कि मेरी राय ऊपर के न्यायाधीशों के सामने जाने पर कदाचित् उचित न जँच सके और बदल जाय। परन्तु यदि समालोचक के ऊपर इस प्रकार के भय का अस्तित्व नहीं हो सकता और अधिकतर उसे शिक्षित समाज की रुचि तथा उससे भी बढ़कर अपना अन्तःकरण ही प्रमाण का काम देता है। ऐसी दशा में, एक समालोचक का महत्व किसी निम्न कोटि के न्यायाधीश के निर्णय से बढ़कर भी कहा जा सकता है। इसी प्रकार, दायित्व भी अधिक हो सकता है।

अतएव सच्चे समालोचक का यह परम कर्तव्य है कि पूर्ण योग्यता प्राप्त किये बिना किसी ग्रंथ अथवा कवि के महत्व का विवेचन करने के गम्भीर कार्य में अपना हाथ कभी भूलकर भी न डाले। समालोचक के लिए आवश्यक है कि वह अपने समालोच्य विषय का अच्छा पण्डित जानकार हो—उसके वैज्ञानिक तत्व, ऐतिहासिक महत्व तथा दार्शनिक स्थिति से पूर्ण परिचित हो, विषय को भली भाँति समझ सकता हो और साथ ही व्यक्तिगत पक्षपात से विरत होकर सच्ची-खरी, किन्तु संयत तथा प्रामाणिक सम्मति निश्चित कर उसे प्रकट करने की शक्ति भी रखता हो। समालोचना केवल इसी दशा में स्थायी साहित्य की सम्पत्ति कहला सकती है। ऐसी ही समालोचना से साहित्य को वास्तविक लाभ भी हो सकता है; क्योंकि इस दृष्टि से किया गया विवेचन केवल निषेधमूलक अथवा क्षणस्थायी न होकर रचनात्मक और चिरस्थायी अवश्य होगा। किसी रचना को आलोचना के लिए पढ़ते समय भली भाँति यह छानबीन कर लेनी चाहिए कि उस रचना में जो बात कही गई अथवा स्थापित की गई वह लेखक की अपनी है अथवा

प्रभाव वा परंपरा द्वारा प्राप्त। बहुत-सी बातें 'मोटिफ' अथवा सिद्धान्त के रूप में प्रथा वा परंपरा द्वारा अर्जित भी हो सकती हैं। अतएव किसी लेखक अथवा रचना की आलोचना करते समय इस बात से आलोचक को सजग रहना चाहिए कि जिस बात को लेकर वह किसी भी भर्त्सना अथवा सराहना करता है उसमें स्वयं लेखक अथवा रचयिता का कितना हाथ है। इस दायित्व का निर्वाह व्यापक अध्ययन द्वारा ही सम्भव है।

परन्तु केवल पण्डित का होना भी पर्याप्त नहीं। समालोचक को अपने समालोच्य विषय पर इतना अधिकार होना चाहिए जिससे वह किसी व्यापक दृष्टि से उसपर विचार कर सके और अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा एक नवीन अथवा मौलिक सिद्धान्त का भरसक प्रतिपादन कर सके केवल पुरानी लकीर न पीटता रहे और न पहले के विद्वानों द्वारा की गई समालोचना की हाँ में हाँ मिलावे। बहुधा यह देखने में आता है कि समाज किसी ग्रंथ अथवा ग्रंथ-रचयिता के विषय में अपनी एक धारणा निश्चित कर लेता है जिसकी, सदा के लिए, एक परिपाटी चल निकलती है और आगे आने वाले लोगों को किसी प्रकार मीन-मेष करने का साहस नहीं होता। सच्चा और खरा समालोचक ऐसी परंपराओं के अस्तित्व पर अपने विचार आश्रित करने के लिए कदापि बाध्य नहीं। न्यायशीलता के बलपर वह सदा निर्भीक बना रहेगा और अपनी व्यापक दृष्टि के सहारे आवश्यकतानुसार एकदम नवीन विवेचन करेगा। परन्तु नवीनता के नाम पर सिर के बल खड़ा होने की आवश्यकता नहीं।

फिर भी न्यायशीलता उसे दुराग्रही नहीं बना सकती। समालोचक के लिए सहृदय होना परम आवश्यक है और सहृदयता बिना सच्ची सहानुभूति तथा उदारता के आ ही नहीं सकती। किसी काव्य का सच्चा मर्मज्ञ वही हो सकता है जो उसके अध्ययन के अवसर पर कुछ समय के लिए अपना व्यक्तित्व प्रस्तुत कवि के व्यक्तित्व में मिला दे। इस प्रकार

उसके वास्तविक रहस्य से सह-चिन्तन द्वारा पूर्णरूपेण परिचित हो जाय। तभी वह अपने समालोच्य विषय को अपने हाथ कर सकेगा और सम्यक् प्रकार से निरीक्षण कर चुकने पर उसके महत्व अथवा नगण्यता का भेद समझता हुआ अपनी बहुमूल्य सम्मति भी दे सकेगा। परन्तु यह बात बहुत सीधी-सादी होने पर भी अनेक समालोचकों के हृदय में पूरी पैठ नहीं कर पाती, जिसका परिणाम यह होता है कि वे अपनी सीमित विचार-श्रेणियों के प्रभाव में आकर भ्रमवश बड़े-बड़े अनर्थ तक कर बैठते हैं। कभी-कभी तो यहाँ तक देखा जाता है कि आवश्यक गम्भीरता की कमी के कारण अपनी आलोचना में वे अनेक प्रकार की असंयत भाषाओं तक का व्यवहार करने लगते हैं। अन्त में न्यायाधीश की कुर्सी पर बैठने का अधिकार रखनेवाला व्यक्ति अपनी क्षुद्रता तथा पक्षपात के कारण साधारण प्रतिद्वन्द्वी की भाँति कठघरे में आमने-सामने खड़ा होने के लिए उतर आता है।

समालोचक को चाहिए कि वह इस सिद्धान्त को कभी न भूले कि उसकी मुख्य उद्देश्य किसी ग्रंथ अथवा ग्रंथ-रचयिता का केवल महत्व-निर्धारण ही नहीं है, अपितु उसके द्वारा साहित्य के ऊँचे आदर्शों की स्थापना, उनकी सहायता से साहित्यिकों को सदा सचेत रखना, साहित्यों के विकास में हाथ बँटाना और इसी प्रकार के अन्य अनेक साधनों के सहारे समाज की मानसिक तथा सांस्कृतिक उन्नति में अत्यन्त महत्व पूर्ण भाग लेना भी है। समालोचक का कर्तव्य इसी दशा में किसी रचनात्मक कार्य की श्रेणी गिनाया जा सकता है अन्यथा कोरा सम्मति-प्रदान किसी काम का नहीं। सच्ची समालोचना का यही रहस्य है। इससे अवगत रहना समालोचक का कर्तव्य ही नहीं, दायित्व भी है।

८. आलोचना और अनुसंधान

हिन्दी में 'आलोचना' शब्द आजकल साहित्यिक समालोचना के लिए प्रयुक्त होता है जो अंग्रेज़ी शब्द 'लिटरेरी क्रिटिसिज़्म' का समानार्थक है। क्रिटिसिज़्म शब्द का मूल रूप ग्रीक शब्द 'क्रिटिकोस' के साथ सम्बद्ध है जिसका अभिप्राय विवेचन करना या निर्णय देना है। साहित्यिक कृतियों की आलोचना कदाचित् उस प्राचीन काल में ही होने लगी थी जिस समय उनका प्रादुर्भाव सर्वप्रथम मौखिक रूप में हुआ था और जब उनके श्रोताओं ने उनसे प्रभावित होकर उन पर अपनी टीका-टिप्पणी आरम्भ की थी। किन्तु इसके अर्थ-विकास को अधिक प्रेरणा उस समय मिली जब इसका प्रयोग अभिनयों तथा (विशेषतः ग्रीस-जैसे देशों में वहाँ के) व्याख्यानों के सम्बंध में भी होने लगा। फिर क्रमशः जब एक पृथक् काव्य-शास्त्र का निर्माण हुआ तो उनके आधार पर विविध साहित्यिक कृतियों के परिचय, वर्गीकरण तथा गुण-दोष विवेचन की एक सुव्यवस्थित परिपाटी चली जिसके द्वारा इसे और भी प्रोत्साहन मिला और स्वयं इसके भी व्यापक सिद्धान्तों पर स्वतंत्र विचार होने लगा। तब से आलोचना ने उधर बहुत दूर तक प्रगति की है और इसने न केवल किसी कृति-विशेष के ही समुचित अध्ययन का यत्न किया है, अपितु उसके सृजन की प्रक्रिया, उसके स्रष्टा के व्यक्तित्व तथा उसके युग एवं तत्कालीन प्रवृत्तियों के भी समझने की चेष्टा की है। इस प्रकार इसका क्षेत्र बहुत व्यापक हो गया है।

'आलोचना' शब्द आजकल जिस अर्थ को व्यक्त कर रहा है वह सम्भवतः पाश्चात्य देशों की ही साहित्यिक चेतना के क्रमिक विकास का

परिणाम है। भारतीय साहित्यिक समीक्षा अत्यन्त प्राचीन होती हुई भी उससे विलक्षण है। इसके 'समीक्षा' शब्द का अभिप्राय 'अन्तर्भाष्य' तथा 'अवान्तरार्थ-विच्छेद'-मात्र ही समझा जाता रहा है तथा समीक्षकों का ध्यान प्रधानतः आलोच्य ग्रंथों तक ही केन्द्रित रहता आया है। इसी कारण भारतीय पद्धति ने शास्त्रीयता का ही अनुसरण विशेष रूप से किया है। टीकाओं द्वारा किसी पाठ का विश्लेषण करके इसने उसके तात्पर्य का स्पष्टीकरण तथा विवेचन किया है अथवा भाष्यों के सहारे उसके मूलभूत सिद्धान्तों की कल्पना करके उन्हें अपने ढंग के निरूपित एवं प्रतिपादित करने की चेष्टा की है, जिस दशा में इसे प्रायः 'मीमांसा' का भी नाम दिया जाता रहा है। आधुनिक आलोचना की भाँति स्वतंत्र रूप से विकसित होने का इसे अवसर नहीं मिला है और आज भी इसमें प्राचीनता की ही झलक दीखती है। इसमें जहाँ काव्य-तत्व के दार्शनिक अध्ययन एवं शास्त्रीय व्याख्यादि अथवा अधिक-से-अधिक रचना-शैलियों की परीक्षा पर ही विशेष ध्यान दिया गया है, वहाँ पाश्चात्य देशों की आलोचना के क्रमशः साहित्यिक कृतियों के व्यावहारिक पक्ष को भी पूरा महत्त्व दिया है। अतएव इसका क्षेत्र जहाँ अधिकतर काव्य-शास्त्र तक ही सीमित जान पड़ता है, वहाँ आलोचना का संपर्क आधुनिक मनोविज्ञान, समाज-विज्ञान, अर्थ-विज्ञान, भाषा-विज्ञान आदि के साथ भी स्थापित होता गया है और उसने अपना एक स्वतंत्र रूप भी ग्रहण कर लिया है।

इसी प्रकार आधुनिक 'अनुसंधान' शब्द के भी अर्थ में कुछ-न-कुछ विशेषता आ गई जान पड़ती है। यह शब्द भी आजकल अधिकतर वैज्ञानिक अन्वेषण के लिए प्रयुक्त होने लगा है जिसकी प्रक्रिया के अन्तर्गत केवल किसी वस्तु विषयक तात्विक चिन्तन वा गवेषणा का ही समावेश नहीं रहता है, उसके सूक्ष्म निरीक्षण और विश्लेषण को भी उचित स्थान मिला करता है। इसमें उसके प्रत्येक अंश का एक-दूसरे के साथ कार्य-कारण सम्बंध स्थापित करने तथा उनके संश्लेषण द्वारा किसी महत्वपूर्ण

निश्चय तक पहुँचने की भी प्रधानता रहती है। अनुसंधान का काम अब केवल किसी वस्तु के सम्बंध में पता लगाना अथवा किसी बात के मूल उत्स तक जाने का प्रयास करना-मात्र ही नहीं रह गया है। उसके बीज रूप से लेकर उसके क्रमिक विकास तक का परिचय प्राप्त करना, उसकी सजातीय वस्तुओं के साथ उसका तुलनात्मक अध्ययन करना तथा विभिन्न दृष्टिकोणों के अनुसार उसका उचित और वास्तविक स्थान निर्धारित करना भी आज उक्त-प्रक्रिया के प्रमुख अंग बन गए हैं। आज का अनुसंधित्सु अपने कार्य में कोरी जिज्ञासा की प्रेरणा से नहीं प्रवृत्त होता और न उसकी तृप्ति-मात्र से ही वह सन्तुष्ट हो जाना चाहता है। वह अपने यत्नों का क्षेत्र और भी विस्तृत करके अपने को पक्का प्रयोगवादी भी सिद्ध करना चाहता है। इस प्रकार आधुनिक अनुसंधान-प्रणाली शास्त्रीयता की प्राचीन परिधि को लाँघकर क्रमशः ठेठ सामाजिक जीवन के अधिकाधिक संपर्क में भी आती जान पड़ती है। प्राचीन काल की नादानुसंधान अथवा तत्वानुसंधान जैसी क्रियाएँ जहाँ आत्मलक्षी और आध्यात्मिक रहीं, वहाँ आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधान प्रधानतः बहिर्लक्षी और पदार्थनिष्ठ बन गया है, जिस कारण इसके क्षेत्र में अपेक्षाकृत अधिक व्यापकता लक्षित होती है।

पाश्चात्य साहित्यिक आलोचना के इतिहास से पता चलता है कि अनुसंधान की आवश्यकता इसे प्राचीन काल से ही पड़ती आई है। ईसवी सन् के पहले वाली दो एक शताब्दियों में जब अलक्षेन्द्र की विजयों के कारण ग्रीक राज्य के प्रसार एवं ग्रीक सभ्यता के प्रचार का कार्य बढ़ रहा था, एथेंस से दूर वाले देशों तक में ग्रीक साहित्य की चर्चा होने लगी और उन क्षेत्रों के विद्वानों ने इसकी ओर आकृष्ट होकर इसके समुचित अध्ययन के प्रति पूर्ण उत्साह प्रदर्शित करना आरम्भ किया। फलतः प्राचीन ग्रंथों तथा पांडुलिपियों की खोज होने लगी और इस कार्य में संलग्न होकर वे लोग इस बात के अनुसंधान में भी प्रवृत्त हुए कि अमुक

कितनी दूरी तक का घनिष्ट सम्बंध हो सकता है तथा पाठक एवं श्रोता को वे दोनों किस प्रकार और कहाँ तक प्रभावित करने में समर्थ कहे जा सकते हैं। फिर भी इस पद्धति को काम में लाने वाले ने ऐसा करते समय प्रस्तुत रचना की अपेक्षा उसके लेखक के मानसिक स्तरों की विविध क्रियाओं पर ही विशेष ध्यान देना उचित समझा है।

इसी प्रकार साहित्यिक आलोचना करते समय अनुसंधान की सहायता लेने वालों का एक अन्य वर्ग उन लेखकों का है जो किसी रचना के मर्म को भली भाँति समझने तथा उसके अन्तर्गत उपलभ्य वैषम्य का समुचित समाधान करने के लिए उसके रचयिता के व्यक्तिगत जीवन-सम्बंधी वृत्तान्तों से भी अवगत हो लेना आवश्यक समझते हैं। इनके अनुसार कोई भी कला-कृति और उसका कलाकार वस्तुतः एक अभिन्न वस्तु हैं और उन्हें एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। कवि अथवा लेखक जो-कुछ भी लिखा करता है उसका उत्स कहीं-न-कहीं उसके विचारों अथवा अनुभवों में अन्तर्हित रहता है। इस कारण, यदि इन बातों का अध्ययन सावधानी के साथ किया जाय तो उन रचनाओं की विविध गुत्थियों का सुलझाना कठिन नहीं है। किसी कलाकार के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह अपने निजी जीवन की सारी बातें खोलकर आगे के लिए रख छोड़े। इसके सिवाय अनेक बातें ऐसी भी होती हैं जिन्हें वह अपने जीवन में कदाचित् गोपनीय भी समझा करता है। किन्तु इन सभी का पता उसकी कृतियों के भीतर किसी-न-किसी प्रकार लगाया जा सकता है और इनके द्वारा उनके पूर्ण रूप से समझने में सहायता ली जा सकती है। अतएव इस पद्धति का प्रयोग करने वालों ने कलाकारों के जीवन-वृत्त अथवा उनके सम्बंध की संस्मरणात्मक रचनाओं के अध्ययन को बड़ा महत्त्व दिया है।

आधुनिक आलोचना-प्रणाली ने इसी प्रकार अपने क्षेत्र के अन्तर्गत उन बातों का भी समावेश करने की चेष्टा की है जो हमारे दैनिक जीवन

से घनिष्ट सम्बंध रखती है और जो हमारे समाज के आर्थिक एवं राजनीतिक प्रश्नों पर भी आश्रित हैं। मार्क्सवादी दर्शन के अनुसार मानव-समाज एवं सभ्यता सदा परिवर्तनशील है और आर्थिक उत्पादन के साधनों की नियंत्रणकारी सत्ता ही वस्तुतः हमारे समाज की व्यवस्था को प्रभावित किया करती है। समाज के अन्तर्गत सदा दो पृथक् वर्ग रहा करते हैं जिनमें आर्थिक वैषम्य के कारण निरन्तर संघर्ष चला करता है और इसका प्रतिबिंब युग-विशेष के साहित्य पर भी पड़ता है। अतएव यह आवश्यक है कि किसी साहित्यिक कृति की समुचित आलोचना करने के पहले उसके रचना-काल की आर्थिक दशा पर भी विचार कर लिया जाय। इस आलोचना-पद्धति को, इसी कारण, यथार्थवादी वा प्रगतिवादी आलोचना का भी नाम दिया जाता है। इसका प्रयोग करने वालों ने खोज पूर्वक यह निर्धारित किया है कि प्राचीन काल की सामाजिक व्यवस्था में प्रभु एवं दास का सम्बंध प्रमुख था, जिस कारण तत्कालीन कला एवं साहित्य का प्रधान उद्देश्य प्रभु-श्रेणी वाले व्यक्तियों का मनोरंजन आनन्दवर्द्धन रहा करता था। फिर इसके अनन्तर एक बार ऐसी परिस्थिति आयी जिसमें जनसाधारण-वर्ग के व्यक्तियों ने राजतंत्र के विरुद्ध आन्दोलन आरम्भ किया और उस युग के कवियों और लेखकों ने उसके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की। इसी प्रकार आधुनिक युग की विशेषता पूँजीपतियों तथा 'सर्वहारा'-वर्ग के व्यक्तियों के बीच संघर्ष में देखी जा सकती है। अतएव सच्चे प्रगतिशील एवं यथार्थवादी साहित्य की परीक्षा इसी मानदण्ड के अनुसार की जा सकती है कि वह उक्त तथ्य का चित्रण करने में कहाँ तक समर्थ है। इस कार्य में असफल प्रतीत होने वाले साहित्यकारों की कृतियों का नाम इन समालोचकों ने प्रतिगामी वा पलायनवादी साहित्य दिया है।

इसके सिवाय नवीन वैज्ञानिक पद्धति को अपनाने वाले इन आलोचकों की यह भी धारणा है कि किसी रचना के मूल-पाठ का निर्धारण

करते समय भी हमारा काम केवल उस कृति के साधारण निरीक्षण और तुलनात्मक अध्ययन से ही नहीं चल सकता, जैसा पहले कभी प्राचीन ग्रीक साहित्य का सम्पादन करते समय हो जाया करता था। इस कार्य में हमें आधुनिक भाषा-विज्ञान से भी पूरी सहायता लेनी चाहिए और उस रचना की भाषा, शब्दावली, व्याकरण एवं लिपि आदि संबंधी सभी दृष्टियों के अनुसार भी परीक्षा करनी चाहिए। प्रत्येक भाषा का अपना पृथक् इतिहास होता है, जिस कारण बिना इस बात का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किये कि आलोच्य कृति के माध्यम का स्वरूप कब कैसा रहा होगा हम इस पर अन्तिम निर्णय नहीं दे सकते कि उसका शुद्ध एवं प्रामाणिक पाठ अमुक प्रकार का ही होगा। कहते हैं कि प्राचीन काल में महर्षि वेद-व्यास ने मौखिक रूप में प्रचलित वेद-मंत्रों को एकत्र करके उन्हें संहिताओं के रूप में वर्गीकृत कर दिया था और उनके सम्पादन का कार्य केवल इतने से ही पूरा हो गया था। परन्तु आजकल के वैज्ञानिक सम्पादक को हस्तलिखित प्रतियों के निरीक्षण और उनकी साधारण तुलना आदि से भी सन्तोष नहीं होता। वह इस प्रकार की सामग्री का पर्यालोचन भी एक विशिष्ट एवं निश्चित ढंग से ही करना चाहता है। वह उपलब्ध प्रतियों को क्रमबद्ध करता है, उनके कालानुक्रमानुसार तालिका बनाता है, फिर उसके आधार पर प्राचीनतम आदर्श पाठ एवं प्रस्तुत पाठ में एकरूपता लाने का यत्न करता है। इसके द्वारा मूल-पाठ के विषय में अपना एक मत निश्चित करते हुए अन्त में उसके विवेचन की ओर भी प्रवृत्त होता है। इस प्रणाली में स्वभावतः प्रायः उन सभी सिद्धान्तों को आधार बनाकर चलना पड़ता है जो भाषा-विज्ञान से सम्बद्ध हैं और जो अनुसंधान पर भी आश्रित हैं।

इस प्रकार आधुनिक आलोचकों के विभिन्न वर्गों ने अनुसंधान की सहायता अपनी दृष्टि-विशेष द्वारा ली है और इसका प्रयोग अपने-अपने ढंग से करते हुए आलोचना-पद्धति में व्यापकता लाने की चेष्टा की है।

आलोचना विषयक सिद्धान्तों तथा उसके इतिहास से सम्बद्ध साहित्य क्रमशः विशाल रूप धारण करता जा रहा है और जान पड़ता है कि वह अपने ग्रंथों की बहुलता में किसी दिन रचनात्मक साहित्य से भी होड़ करने लगेगा। फलतः इसका एक परिणाम यह भी देखने में आता है कि साधारण पाठकों का ध्यान मूल कृतियों की ओर से खिंचकर उन पर किये गए विवेचनों पर ही अधिक जाने लगा है। ऐसे लोग किसी कला-कृति का अनुशीलन करने की अपेक्षा उसके निर्माण-कालीन जीवन-मात्र के अध्ययन को कम महत्व देते नहीं जान पड़ते। उसके रचयिता को युग-विशेष की देन-मात्र स्वीकार करते हुए स्वयं उसकी देन के प्रति प्रायः उपेक्षा प्रदर्शित करने लग जाते हैं जिसके कारण उनका कार्य कभी-कभी केवल अधूरा और एकांगी बनकर ही रह जाता है। युग-विशेष की विचार-धारा अथवा उसकी प्रवृत्तियों की ओर अधिक ध्यान देने के कारण कभी-कभी हम अपने आलोच्य ग्रंथ के कवि अथवा लेखक के व्यक्तित्व अथवा उसकी योग्यता के प्रति भी न्याय करने में पूर्ण रूप से समर्थ नहीं हो पाते। किसी साहित्यकार का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करते समय भी हमारा अनुसंधान प्रायः इसी बात की ओर अपना लक्ष्य रखता है कि हम कृति-विशेष के रचना-समय वाली उसकी विविध मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं का ही सूक्ष्म निरीक्षण करें। उनके उद्भव, विकास एवं कार्यक्रम का ठीक-ठीक ब्यौरा उपस्थित करें और उनमें कार्य-कारण-सम्बंध की खोज करें। उस समय हमारी दशा ठीक उस व्यक्ति की सी हो जाती है जिसे किसी परोसे गए भोज्य पदार्थ का स्वाद न लेकर उसकी पाक-क्रिया की जाँच-मात्र ही सूझती हो।

आलोचना में प्रयुक्त की गई उक्त प्रकार की वैज्ञानिक प्रणालियाँ किसी आलोचक को बहुधा आवश्यकता से अधिक निष्पक्ष एवं अनासक्त भी बना देती हैं जिस कारण उनमें स्वभावतः सहृदयता उस मात्रा में नहीं आ पाती जितनी अन्यथा अनिवार्य हो सकती है। प्रत्येक बात

का विश्लेषण एवं वर्गीकरण करते जाना और उसे किसी रूखे-सूखे पदार्थ-सा ज्यों का त्यों रख छोड़ने का यत्न करना केवल कोरे मस्तिष्क का व्यापार बन जाता है जो साहित्य जैसी सरस वस्तु के सम्बंध में कभी उचित और उपयोगी नहीं हो सकता। जो वस्तु मानव-समाज के रागात्मक सम्बंधों के चित्रण में भाग लेती हो उसकी आलोचना करते समय सहृदयता से काम न लेना, प्रत्युत निष्पक्षता के आवेश में कभी-कभी हृदयहीनता-सा परिचय देने लगना, कभी उपयुक्त एवं स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता और न ऐसे व्यक्ति कभी उसके उचित मूल्यांकन में समर्थ ही हो सकते हैं। इसके सिवाय आलोचना की उक्त वैज्ञानिक प्रणालियाँ किसी आलोचक को स्वच्छन्द रूप से कार्य भी नहीं करने देतीं। वे विभिन्न वैज्ञानिक पद्धतियों का अनुसरण करती हैं जिनमें प्रायः बहुत स्पष्ट और कठोर नियमों का पालन किया जाता है। आलोचक को उनके नियंत्रण में रहने के लिए बहुधा बाध्य होना पड़ जाता है और फलतः वह विचार-स्वातंत्र्य से सदा लाभ नहीं उठा पाता।

लगभग इसी प्रकार का परिणाम हमें उस दशा में भी देखने को मिलता है जब हम आलोचना की प्रगतिवादी अथवा तथाकथित यथार्थ-वादी पद्धति का प्रयोग किया करते हैं। इसके अनुसार किसी कलाकार की कृति कदाचित् केवल उसी रूप में आदर्श मानी जा सकती है जब उसमें जनसाधारण की आर्थिक दशा अथवा ठेठ जन-जीवन का स्पष्ट चित्रण पाया जाय, जब 'शोषितों' के प्रति पूर्ण सहानुभूति उसमें व्यक्त की जाय तथा 'शोषकों' द्वारा उन पर किये गए अत्याचारों के विरुद्ध उसमें न केवल रोष प्रकट किया जाय, अपितु उन्हें किसी कल्पित उज्वल भविष्य की तैयारी के लिए सजग और सचेत भी किया जाय। इस प्रकार का साहित्य अपनी मूल प्रेरणा अथवा आदि उपक्रम से ही स्वभावतः एकांगी और एकपक्षीय बन जाता है। उसमें औदार्य, उन्मुक्तता एवं सार्वभौमता के वे उदात्त गुण नहीं आ पाते जिनके द्वारा ही

वस्तुतः उसे अपने नाम 'साहित्य' को सार्थक बनाने की क्षमता मिल सकती है। ऐसे साहित्य में कभी-कभी उस प्रचार-कार्य की भी गन्ध आने लगती है जिसमें हिन्दी के भक्तिकालीन साहित्य से केवल उपदेशों तथा सुझावों का ही पुट नहीं रहा करता, प्रत्युत द्वेषजनक ललकारों का झंकार भी भरी रहती है जो उच्च साहित्यिक आदर्शों के अनुकूल न पड़कर उसे कभी-कभी संकीर्ण साम्प्रदायिकता का शिकार तक बना देता है।

जहाँ तक किसी कृति के वैज्ञानिक ढंग से सम्पादन का सम्बंध है उसके महत्व के विषय में किसी मतभेद का स्थान नहीं है। उसका पाठ वास्तविक शरीर है जिसका स्वस्थ एवं सुन्दर होना ही उसकी सजीवता तथा क्षमता का परिचायक हो सकता है और बिना उसके मौलिक एवं स्वाभाविक रूप ग्रहण किये ऐसा सम्भव भी नहीं हो सकता। परन्तु जिस प्रकार किसी व्यक्ति को पूर्ण रूप से समझने तथा उसे उच्च वा निम्न स्थान प्रदान करने के लिए केवल उसके स्वास्थ्य अथवा सौन्दर्य को ही महत्व नहीं दिया जा सकता, उसकी आत्मा एवं चरित्र का भी समुचित मूल्य आँकना पड़ता है, उसी प्रकार उक्त साहित्यिक कृति के विषय में भी कहा जा सकता है। आलोच्य ग्रंथ के पाठ-निर्धारण का सफल कार्य उसे केवल उसकी प्रामाणिकता का ही निदर्शन-पत्र दे सकता है। उसके वर्ण्य विषय, भाव-सौन्दर्य, रचना-शैली अथवा जन-हित सम्बंधी उपादेयता के प्रश्नों का समाधान इसके द्वारा नहीं किया जा सकता। प्रामाणिक रूप में निर्धारित किया गया पाठ इन दृष्टियों से अध्ययन करने के लिए उपयोगी आधार बन सकता है। इस प्रकार वह किसी कृति की सांगोपांग आलोचना के लिए बहुत महत्वपूर्ण भी है, किन्तु केवल इतना ही सभी-कुछ नहीं है। कभी-कभी तो उसमें उसमें की गई आवश्यकता से अधिक छानबीन आलोचकों के सामने अनेक भ्रमात्मक प्रश्न भी खड़े कर देती है, जिनके कारण उनके निर्णय-कार्य में कई बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं।

अतएव ऊपर दिये गए केवल कतिपय संक्षिप्त उदाहरणों द्वारा भी स्पष्ट हो जा सकता है कि आधुनिक आलोचना-पद्धति में अनुसंधान का, चाहे वह शुद्ध वैज्ञानिक हो अथवा केवल ऐतिहासिक-मात्र ही क्यों न हो, बहुत बड़ा हाथ है। इसके द्वारा उसकी विविध प्रक्रियाओं में न केवल विवेचन के लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हो जाती है, अपितु आलोच्य कृति के अधिक से अधिक स्पष्टीकरण का पूरा अवसर भी मिल जाता है। आधुनिक आलोचना की जिन प्रणालियों ने अनुसंधान को नहीं अपनाया है और जो तर्क एवं सैद्धान्तिक विवेचन का ही आश्रय ग्रहण करती हैं उनमें दार्शनिकता का पुट अधिक मात्रा में दीख पड़ता है। उनमें सुदूर गहराई तक पहुँचने एवं तथ्य निकालने के यत्न किये जाते हैं, जिस कारण उनमें वास्तविक तत्त्व की ओर से ध्यान के प्रायः हट जाने की आशंका रहती है। उनका अनुसरण करने वाले आलोचक कभी-कभी ऐसी विचित्र शैली का भी प्रयोग करते हैं जिसमें भाववाचक शब्द अधिक रहा करते हैं और उसमें व्यक्त की गई भाव-धारा के अन्तर्गत क्रमिक प्रवाह एवं सातत्य के भी लक्षण बहुत कम देखने में आते हैं। फलतः इस प्रकार की पद्धति में भी हमें उस अनुपात-सम्बंधी अनौचित्य के ही दर्शन होते हैं जिसके कारण हमने उपर्युक्त अन्य आलोचना-प्रणालियों को एकांगी ठहराया है। किसी साहित्यिक कृति-विशेष की आलोचना उसी दशा में पूर्ण कही जा सकती है जब उसमें उसकी विशेषताओं के अनुसार प्रायः सभी आवश्यक दृष्टिकोणों से विचार किया गया हो। किन्तु इसके साथ ही जिसमें किसी भी एक पक्ष पर उसके उचित अनुपात से अधिक बल भी न दिया गया हो।

६. साहित्य के इतिहास की समस्याएँ

किसी भी साहित्य का इतिहास लिखते समय उसके लेखक के सामने अनेक ऐसी समस्याएँ आ खड़ी हो जाती हैं जिनका सम्बंध सीधे उसके वर्ण्य-विषय अथवा उसकी वर्णन-शैली मात्र तक ही सीमित नहीं रहा करता। कभी-कभी तो ये ऐसी होती हैं जिनके कारण उस इतिहास के स्वरूप का भी प्रश्न उठ जाता है और उसकी सीमा के निर्धारण की कठिनाई पड़ जाती है, अन्यथा यह भी सम्भव रहता है कि हम उसके अंग-प्रत्यंग के निरूपण एवं नामकरण आदि के विविध झमेलों में ही पड़ जायँ। इस दूसरे प्रकार की समस्याओं का क्षेत्र जहाँ केवल किसी साहित्य विशेष के उद्भव विकास अथवा विशिष्ट रूप सम्बंधी प्रश्नों तक ही मर्यादित रह सकता है, वहाँ पहले प्रकार के तर्क-वितर्कों का समाधान पाने के लिए हमें बहुत व्यापक रूप से विचार करना पड़ेगा। उसके स्वरूप का समुचित ज्ञान हमें तब तक नहीं हो सकता और न उस समय तक हमें उसकी इयत्ता का ही पूरा बोध हो सकता है, जब तक हम सर्व प्रथम 'साहित्य का इतिहास' द्वारा सूचित होने वाले आशय को भली भाँति समझ लेने की चेष्टा न कर लें। इसके लिए, सम्भव है, हमें न केवल इसमें आये हुए 'साहित्य' एवं 'इतिहास' शब्दों के अर्थ की व्यापकता पर ध्यान देने की आवश्यकता पड़ जाय, प्रत्युत यह भी हो सकता है कि इसकी सीमाओं की जानकारी के लिए हमें तुलनात्मक अध्ययन भी करना पड़े।

'इतिहास' कहे जाने वाले ग्रंथों का प्रसंग आने पर साधारणतः ऐसा लगता है जैसे उनमें किन्हीं देशों वा जातियों की ही चर्चा होगी अथवा

यह भी हो सकता है कि उनमें किन्हीं मानव-वर्ग विशेष की संस्कृति के उद्गम एवं विकास का ही वर्णन किया गया होगा। किसी भू-भाग के आदिवासी कौन थे, उनके पीछे कौन-कौन वहाँ आते गए, उनका पारस्परिक सम्बंध कब और किस प्रकार संघटित होता गया तथा कैसे-कैसे एवं किन-किन परिस्थितियों में पड़ कर वहाँ के लोगों ने अपनी विशिष्ट संस्थाएं स्थापित कीं अथवा विभिन्न परंपराओं को प्रचलित किया आदि कुछ ऐसी बातें हैं जो उनमें सामान्यतः पायी जाती है। इसी प्रकार किसी जाति विशेष की संस्कृति के इतिहास में भी हमें उसके आदि रूप, क्रमिक विकास एवं विभिन्न अवयवों की चर्चा, विशेषतः उस वर्ग के सामूहिक संगठन तथा आपस के सर्वमान्य व्यवहारों को दृष्टि में रख कर की गयी दीख पड़ती है। परन्तु किसी साहित्य के इतिहास में हमें इन दोनों में से किसी भी एक की पद्धति का पूर्ण अनुसरण सम्भव नहीं जान पड़ता। अतएव हमारे सामने ऐसे प्रश्नों का; इस सम्बध में, उठना स्वाभाविक हो जाता है कि क्या हम उसका आरम्भ करते समय विभिन्न साहित्यकारों के वातावरण, व्यक्तित्व एवं कृतियों की ओर ध्यान दें अथवा तद्विषयक साहित्य की प्रगति पर ही विचार करें।

इसके सिवाय कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि हम यहाँ पर स्वयं 'साहित्य' शब्द के अर्थ की व्याप्ति का ही निर्णय करने लगें और सोचने लग जायँ कि क्या उसके अन्तर्गत सारी उपलब्ध रचनाओं की एक सामान चर्चा करना अपेक्षित होगा ? क्या हमारे लिए यह आवश्यक नहीं कि हम सर्व प्रथम किसी ऐसे सर्वमान्य मानदण्ड की भी सहायता ले लें जिसके आधार पर हमें वास्तविक साहित्य के स्वरूप का यथेष्ट ज्ञान हो सके तथा इस प्रकार हम उसके विकास का ठीक परिचय देने में समर्थ हों ? ऐसा करते समम हमें प्रायः किसी न किसी समीक्षा-शास्त्री की भी शरण लेनी पड़ सकती है उस दशा में हम स्वभावतः कई ऐसी गुत्थियों के सुलझाने में भी लग जा सकते हैं कि आदर्श साहित्य के

प्रमुख लक्षणों में किन बातों की गणना की जाय, उसके चरम उद्देश्य का निर्णय किस प्रकार किया जा सके तथा उसका मूल्यांकन करते समय किन-किन बातों पर विचार करें ? फिर भी यह स्पष्ट है कि हम किसी साहित्य का इतिहास आरम्भ करते समय केवल साहित्यिक आलोचना को ही आधार मान कर नहीं चल सकते और न केवल इसी बात के फेर में पड़कर कि क्या-क्या और कैसे-कैसे लिखा गया है। हम अपने उस महत्त्व-पूर्ण प्रश्न की ओर से भी ध्यान हटा ले सकते हैं कि वस्तुतः वैसी कृतियों की भी किसी युग विशेष के प्रति कैसी प्रतिक्रिया रही। साहित्यिक समा-लोचना समीक्षाशास्त्र का प्रमुख लक्ष्य प्रायः साहित्य विशेष अथवा अधिक से अधिक उसके निर्माताओं तक ही परिमित रह जाया करता है और केवल प्रासंगिक रूप से उनके वातावरणादि की भी चर्चा कर दी जाती है। परन्तु जिस प्रकार किसी देश वा जाति का इतिहास लिखते समय बहुधा उसके साहित्य को लोग विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों का परि-णाम सिद्ध करके ही आगे बढ़ जाते हैं, उसी प्रकार यह भी देखा जाता है कि प्रायः साहित्यिक आलोचना भी किसी कृति का विश्लेषणात्मक अध्ययन कर उसके विषय में केवल स्वरूपगत निर्णय दे देने को अपना कर्तव्य मान बैठती है। अतएव प्रश्न यह उठ सकता है कि क्या किसी साहित्य का भी लक्ष्य केवल यहीं तक सीमित रहे ?

इसी प्रकार, यदि हम साहित्य के इतिहास के इन स्वरूप एवं सीमा विषयक प्रश्नों की ओर ध्यान नहीं भी दें, फिर भी हमारे सामने कुछ अन्य ऐसी बात आ जाती हैं जो उसके आरम्भ-काल, काल-विभाजन, अन्त-र्विभाग, नामकरण, प्रवृत्तियों के निर्धारण आदि से सम्बद्ध हैं और जिनके विषय में निर्णय कर लेना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। सबसे पहले प्रश्न तो यही उठ सकता है कि ऐसे इतिहास का आरम्भ किस समय से किया जाय ? जिस भाषा के साहित्य का इतिहास लिखना है स्वयं उसका ही आरम्भ कब से माना जाना चाहिए यह एक विवाद-

पूर्ण प्रश्न है। कोई भी भाषा कभी किसी निश्चित काल से बोली जाती हुई नहीं पायी जाती। उसका मूल्य-स्रोत किसी अन्य पूर्ववर्ती भाषा का अभिन्न अंग बना दीख पड़ता है और हमें उन दोनों की विभाजक रेखा का पता लगाना सरल नहीं हुआ करता। इसके सिवाय उसका अनुसंधान करते समय, स्वभावतः, बहुत-सी ऐसी उपलब्ध सामग्रियों पर विचार करना पड़ सकता है जिन्हें एक ओर जहाँ हम साहित्य की संज्ञा नहीं दे सकते, वहाँ दूसरी ओर हम उनके ठीक रूप को पहचान भी नहीं पाते। उदाहरण के लिए 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' का आदि-काल निर्धारित करते समय, हमारे सामने बराबर यही प्रश्न उठा करता है कि हम इसका आरम्भ कहाँ से मानें ? किन उपलब्ध रचनाओं की भाषा को पुरानी हिन्दी तक के नाम से भी अभिहित कर हम उसे अपभ्रंश से पृथक् समझें ? यदि किसी संधि-काल के लिए अनुमान कर लेना भी अपेक्षित न हो तो उसके आदि एवं अन्त की दोनों सीमाओं का निर्णय किस आधार पर किया जाय ?

फिर किसी साहित्य के इतिहास विषयक प्रारम्भिक युग को 'आदि-काल' जैसा नाम दे देना स्वयं भी भ्रामक हो सकता है। उस अवधि को ठीक-ठीक कहाँ तक सीमित मानें और किस आधार पर उसे निश्चित करें, यह एक बात है। इसके साथ ही एक दूसरा प्रश्न भी बराबर उठ सकता है कि उसके आगे आने वाले मध्यकाल अथवा वैसे ही आधुनिक काल जैसे अन्य विभागों के भी पृथक् करने के लिए किन महत्वपूर्ण बातों की सहायता ली जाय। ऐसा काल-विभाजन करते समय केवल इसी बात पर सन्तोष कर लेना समीचीन नहीं कि किसी साहित्य के इतिहास का मध्यकाल उसके निर्माताओं के देश वा जाति के भी इतिहास के मध्यकाल का अनुसरण कर सकता है। उदाहरण के लिए हिन्दी साहित्य के रचयिताओं के देश भारत के इतिहास का मध्यकाल ईसवी सन् की सातवीं-आठवीं शताब्दी से आरम्भ होता दीख पड़ता है, जबकि सम्राट् हर्ष का

युग व्यतीत हो चुका था और जब से मुस्लिम आक्रमणों का आरम्भ हुआ था, किन्तु ठीक उसी समय को हिन्दी साहित्य के इतिहास का प्रारम्भिक युग ठहराने की परंपरा प्रचलित है, जब कि 'सिद्ध साहित्य' की रचनाओं का निर्माण होने लगा था। उस समय तक तो, वस्तुतः हिन्दी भाषा के ही किसी स्थिर वा निश्चित रूप का पता नहीं चलता और न किसी कारण, आज तक इस बात को निर्विवाद रूप से स्वीकार ही किया जाता है कि सिद्धों के उपलब्ध चर्यापद अथवा उनके दोहे हिन्दी भाषा की रचनाएँ हैं।

किसी साहित्य के इतिहास वाले विभिन्न युगों के नामकरण की समस्या एक अन्य प्रकार से भी उपस्थित हो सकती है। जब हम उन्हें केवल 'आदिकाल', 'मध्यकाल', अथवा 'आधुनिक काल' न कह कर उनकी जगह भरसक ऐसे नामों के प्रयोग करने लगते हैं जिनसे उनमें से प्रत्येक की कुछ न कुछ विशिष्ट बातों का भी बोध हो सके तो यह समस्या दूसरे ढंग की हो जाती है। उस समय तो कभी-कभी हमें यही उचित जान पड़ता है कि हम तत्कालीन साहित्यिक कृतियों, साहित्यकारों वर्ण्य-विषयों वा वर्णन-शैलियों में से किसी एक को महत्व देकर उसकी विशेषताओं के अनुसार ऐसे युगों के नाम रख दें अथवा बहुधा यह भी दीख पड़ता है कि हम उनका नाम करण, तत्कालीन विशिष्ट शासकों वा जातियों आदि के नामानुसार भी करने लग जाते हैं। उदाहरण के लिए हिन्दी साहित्य के इतिहास के ही आदिकाल को हम कभी-कभी 'रासोयुग' का नाम देते हैं कभी उसे 'चारणयुग' कहते हैं, कभी 'वीरगाथा काल' बतलाते हैं और कभी 'सिद्ध-सामंत युग' द्वारा अभिहित करते हैं। कभी-कभी उसे पुरानी हिन्दी अथवा अपभ्रंश तक के साथ जोड़ने की चेष्टा करते हैं। स्पष्ट है कि ऐसा नामकरण किसी न किसी प्रकार के सुभीते की ही दृष्टि से किया जाता है, किन्तु फिर भी यह सदा सर्वमान्य नहीं हो पाता। इस दशा में भी बराबर ऐसे प्रश्नों के उठने

की सम्भावना रहा करती है कि क्या हम इनमें से किसी एक को अपनाते समय किसी दूसरे की उपेक्षा नहीं करते ?

इसके सिवाय किसी भी युग-विशेष के साहित्य पर जब हम कुछ अधिक सूक्ष्म रीति से विचार करने लगते हैं और उसके अन्तर्गत रची गई कृतियों के वर्गीकरण की ओर भी ध्यान देते हैं तो हमारे सामने कतिपय अन्तर्विभागों की भी समस्या खड़ी हो जाती है। उस समय हम देखते हैं कि एक ही युग के अन्तर्गत अनेक प्रकार की प्रवृत्तियाँ काम कर रही हैं और उनमें से कुछ विशेषतः उल्लेखनीय हैं। उनमें से भी सभी को तत्वतः परखने, प्रमुख लक्षणों के अनुसार उनका वर्गीकरण करने तथा उनके आधार पर निर्मित कृतियों का यथावत् मूल्यांकन कर तदनुकूल परिणाम निकालते समय, हमें कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है। हिन्दी साहित्य के इतिहास पर विचार करते समय, यदि हम उसके मध्यकाल के पूर्वार्द्ध को उस समय की प्रमुख भाव-धारा के आधार पर 'भक्तिकाल' का नाम देते हैं तथा तत्कालीन हिन्दी कवियों की भक्ति-भावना को क्रमशः निर्गुणपरक एवं सगुणपरक वर्गों में विभाजित कर तदनुरूप नाम प्रदान करने लगते हैं, तो हमें इन दोनों विभागों में से ही प्रत्येक में दो-दो उप-विभाग करने पड़ते हैं। इन उप-विभागों को हम सुभीते की दृष्टि से क्रमशः निर्गुण भक्ति की ज्ञानाश्रयी एवं प्रेमाश्रयी शाखा तथा सगुण भक्ति की रामभक्ति शाखा एवं कृष्ण-भक्ति शाखा के नाम दे डालते हैं, किन्तु हमें इससे पूरा सन्तोष नहीं होता। हमारे सामने यह प्रश्न सहसा उपस्थित हो जाता है कि क्या जिस दृष्टि से हम हिन्दी के सूफ़ी कवियों को प्रेममार्गी कहा करते हैं, उसी दृष्टि से इसके संत कवियों को भी हमें ज्ञानमार्गी कह देने के लिए कोई पुष्ट आधार हो सकता है ?

वास्तव में किसी भी साहित्य का इतिहास मूलतः उन विविध प्रवृत्तियों के ही आधार पर निर्मित किया जा सकता है जो उसके रचयिताओं के

समाज की भाव-धाराओं के भीतर अन्तःस्रोत बन कर प्रवाहित होती जान पड़ती हैं। तदनुसार उनके उद्गम, विकास एवं प्रवाह की प्रगति का स्वरूप उनसे सर्वथा विलक्षण नहीं हो सकता और न, इसी कारण, वे वैसे समाज की विशेषताओं द्वारा अप्रभावित ही रह सकती हैं। साहित्यकार के समाज की परिवर्तित दशा के कारण उनमें न्यूनाधिक परिवर्तन की सम्भावना हो सकती है। इसी प्रकार उसकी संस्कृति के विकास में समय-समय पर मोड़ आते रहने के साथ, उनकी गति में भी कुछ न कुछ हेर-फेर का आ जाना सम्भव है। परन्तु जहाँ तक उनके द्वारा किसी साहित्य-कार के स्वयं प्रभावित होने का प्रश्न है, यह उसी मात्रा में हो सकता है जहाँ तक उसके व्यक्तिगत संस्कार अथवा अनुभूति एवं प्रतिभा उसे इसके लिए सन्नद्ध कर चुके रहें। किसी साहित्यकार के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह उन्हें ठीक उनके प्रकृत रूप में ही ग्रहण करे और उन्हें फिर उसी रूप में अभिव्यक्ति भी प्रदान कर दे। वह उन्हें प्रायः स्वयं अपने ढंग से ही अपनाने का यत्न करता है और फिर अपनी प्रतिभा के बल पर उन्हें कोई न कोई नया स्वरूप भी दे देता है। साहित्य के अन्तर्गत हमें उसके इस नूतन सृष्टि की ही उपलब्धि होती है। इसे ही फिर हम उसके समाज को भी पुनः प्रभावित करते तथा किसी विचित्र प्रतिक्रिया के रूप में उसके साथ इसका आत्मसात् हो जाना तक देखा करते हैं। अतएव साहित्य के इतिहास का लेखक जब तक इन सारी क्रियाओं एवं प्रतिक्रियाओं को ध्यान में न रखे, तब तक वह सदा विभिन्न प्रकार की समस्याओं का शिकार बना रह सकता है और वह अपने कार्य में पूर्णतः सफल नहीं हो सकता। वर्गीकरण एवं नामकरण के प्रश्न तो ऐसे हैं जिन्हें हम यों साधारण प्रयास द्वारा भी सुलझा सकते हैं।

१०. आधुनिक हिन्दी कविता पर एक दृष्टि

हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल वस्तुतः १९ वीं शताब्दी में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से आरम्भ हुआ। इसके मुख्य कारण तीन थे। पहली बात तो यह थी कि इसी समय के लगभग भारतवर्ष में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। अंग्रेजों से तथा विशेषतः उन्हीं के कारण अन्य विदेशी लोगों से कुछ दिनों से साथ होते आने के कारण भारतीय समाज में धीरे-धीरे कुछ परिवर्तन होने लगे थे। बाहरी रहन-सहन, साहित्य, वेषभूषा तथा सभ्यता को भारतीयों ने अपनाना आरम्भ कर दिया था। इसी कारण, दो विभिन्न जीवनों के संपर्क से नवजीवन का संचार हुआ। दूसरी बात यह थी कि देश में कई भिन्न-भिन्न स्थानों पर प्रेसों के स्थापित हो जाने से प्राचीन तथा नवीन ग्रंथों के छापने और पत्र-पत्रिकाओं को निकालने की विशेष रूप से सुभीता हो गई थी। इसी कारण, देशी भाषाओं को उन्नत करने का इसी समय सुअवसर उपस्थित हुआ। किन्तु हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल विशेषकर एक अन्य कारण से इसी समय आरम्भ होता है। वह तीसरी बात है खड़ी बोली का स्वतंत्र रीति से व्यवहार में आना। बाबू हरिश्चन्द्र के पहले खड़ी बोली अवश्य थी और उसका व्यवहार भी होता था। किन्तु वह व्यवहार एक प्रकार से मिश्रण का व्यवहार था। हिन्दी भाषा के नामी लेखकों को इस बात की परवाह नहीं रहती थी कि अपनी पुस्तकों में हम किस प्रकार की सतरंगी खिचड़ी पका रहे हैं। बाबू साहब ने केवल खड़ीबोली अथवा केवल ब्रजभाषा में लिखने का पहले पहल यत्न किया।

उपर्युक्त तीनों बातों के कारण हिन्दी साहित्य में एक नयी हलचल-सी उत्पन्न हो गई। भाषा के परिष्कृत होने के साथ-साथ विषय में भी बड़ा परिवर्तन हुआ। कविता ने कन्हैया की बाँसुरी और लीलाओं, नायक-नायिका भेद तथा भक्ति-भाव की वासनात्मक रचनाओं से ही एक मात्र भरे जाने से स्पष्ट रूप में उदासीनता प्रकट की। पुराने विषयों के साथ-साथ अब भारत के प्राचीन गौरव, देश-भक्ति, एकता तथा समाज-सुधार ने भी स्थान ग्रहण करना आरम्भ किया। विषयों के बढ़ जाने तथा उन्हें अन्य विदेशी भाषाओं की कविता के समान सर्व-साधारण की समझ में आने योग्य सरल बनाने के यत्न में आधुनिक कवियों ने धीरे-धीरे आलंकारिक भाषा का प्रयोग करना छोड़ दिया। उद्देश्य अब यह नहीं रह गया कि किसी विषय विशेष को ही किस ढंग से पद्य में लाकर दिखलायें कि कवि का पूर्ण पाण्डित्य प्रकट हो। किन्तु अब समयानुसार कवि लोग यह समझने लगे कि किसी भी अच्छे विषय को किस उत्तमता के साथ छन्दबद्ध करें कि सर्व-साधारण पर उसका प्रभाव समुचित रीति से पड़े। विभिन्न अलंकारों के निमित्त दौड़ लगाने तथा रसों की अधिकता में बहने की अपेक्षा कवियों ने विषय के भाव में ही तन्मय हो जाना अधिक ठीक समझा। अब धीरे-धीरे लोगों ने नये रूप में प्रकृति की ओर अपनी दृष्टि फेरी और मानवी हृदय की ओर भी। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने के कारण तथा कभी-कभी आलोचना होने से कविता आरम्भ में सँभल-सँभल कर उन्नति करने लगी। थोड़े ही दिन में अर्थात् २० वीं शताब्दी के आरम्भ होते-होते मध्यकालीन तथा आधुनिक कालीन हिन्दी कविताओं में बड़ा अन्तर आ गया।

परन्तु किसी भाषा के पूर्णतः विकसित होने के लिए वर्षों की आवश्यकता हुआ करती है। आधुनिक हिन्दी कविता, यद्यपि मध्यकालीन से बहुत कुछ उन्नति कर चुकी थी, तथापि पूर्ववर्ती हिन्दी साहित्य के सूर,

तुलसी, केशव, कबीर के सामने आधुनिक कवि निरे साधारण लेखकों की श्रेणी में थे। जिस प्रकार अंग्रेजी साहित्य के इतिहास में नवजागरण के उपरान्त कविता करने वाले शेक्सपियर और मिल्टन जैसे १८ वीं शताब्दी के कवि वाह्याडम्बर के ही पीछे प्राण देते फिरते थे, उसी प्रकार हिन्दी साहित्य के इतिहास में भी उपर्युक्त हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों के उपरान्त कविता करने वालों की दशा हो गई थी। हिन्दी साहित्य का यह १९ वीं शताब्दी का नवयुग इसीलिए उस अंग्रेजी साहित्य के रोमानी पुनरुत्थान के समान है जिसका नेतृत्व प्रसिद्ध कवि वड्सवर्थ ने भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के ही समान स्वीकार किया था जिसमें फिर भी लगभग उसी प्रकार भाषा तथा भावों का नये सिरे से संगठन किया था। अभाग्यवश अभी तक हिन्दी कविता की वह अवस्था नहीं आयी है जिसमें शेली, कीट्स, तथा बायरन जैसे धुरन्धर कवि उत्पन्न हो सकें। किन्तु वह लहर लगभग उसी प्रकार की है जो आधुनिक हिन्दी कवियों के हृदय में उठती रही है। सम्भव है कि यदि प्रतिभाशाली पुरुष सच्चे भावों के साथ स्वातंत्र्य पूर्ण यत्न करें तो अच्छी सफलता का पा लेना कुछ दुष्कर न हो। फिर भी जीवन-दर्शन का प्रश्न इस सन्दर्भ में विचारणीय है।

आधुनिक हिन्दी कविता की पूर्ण आलोचना हम दो प्रकार से कर सकते हैं एक तो उसकी बहिरंग परीक्षा के अनुसार और दूसरे अन्तरंग देखभाल के साथ। पहले प्रकार से देखने में इसकी आधुनिक भाषा, आधुनिक छन्द और आधुनिक शैली को ध्यान में लाना होगा तथा दूसरे प्रकार से देखने में इसके विषय, उद्देश्य और भाव की वर्तमान परिस्थिति पर विचार करना होगा। इसके उपरान्त इसकी कठिनाइयों और त्रुटियों पर दृष्टि डालनी होगी और अन्त में यह देखना होगा कि किस प्रकार की चेष्टाएँ की जायँ कि हिन्दी कविता में नयी लहर के अनुसार कविता के

उच्चतम आदर्श को सामने रखे हुए आधुनिक तथा भविष्य के हिन्दी कवि पूरी सफलता प्राप्त कर सकें।

हिन्दी कविता की भाषा के ऊपर इस समय विचार करने से जान पड़ता है कि आधुनिक कवि भाषा के व्यवहार के अनुसार तीन प्रकार के हैं। एक तो वे जो केवल खड़ीबोली का ही प्रयोग सर्वदा किया करते हैं और ऐसा ही करना उसके लिए अत्यन्त श्रेयस्कर समझते हैं। उनका कहना यह है कि जिस भाषा को हम सर्वदा व्यवहार किया करते हैं तथा जो गद्य लिखते समय भी लिखी जाती है उसी का प्रयोग करना ठीक है। क्या आवश्यकता है कि हम एक पुरानी तथा केवल किसी स्थान-विशेष में ही व्यवहार में लायी जाने वाली भाषा को केवल कविता में प्रयोग करें? इस मत के मानने वाले कवियों की संख्या सबसे अधिक है और अनुदिन बढ़ती भी जा रही है। 'सरस्वती पत्रिका' के भूत पूर्व सम्पादक महावीर प्रसाद द्विवेदी इसके लिए सबसे बड़े आन्दोलन करनेवालों में से हैं। 'एकान्तवासी योगी' के रचियता श्रीधर पाठक तो खड़ी बोली के आचार्य ही कहलाते हैं। इनके सिवाय मैथिली शरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय, कामता प्रसाद गुरु तथा कई कवि हैं जो सर्वदा खड़ी बोली का ही अपनी कविता में व्यवहार किया करते हैं। दूसरे प्रकार के वे कवि हैं जो केवल ब्रजभाषा का ही प्रयोग करते हैं। वे कहते हैं कि खड़ी बोली में उत्तम कविता का होना बहुत कठिन है। ब्रजभाषा में ही हमारे प्राचीन धुरन्धर कवि अपने अनूठे काव्य रचा करते थे। ब्रजभाषा ही ऐसी भाषा है जिसमें माधुर्य, पद-लालित्य आदि के लिए पूरा मसाला मिल सकता है। इसके एक बड़े आधुनिक आचार्य आगरा के प्रसिद्ध स्वर्गीय सत्यनारायण 'कविरत्न' समझे जाते थे। उनकी मृत्यु से इस दल की बड़ी हानि हुई है, विशेषकर इस बात के कारण कि ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम है और जो है वह भी दिनोंदिन कम होती जा रही है। जगन्नाथ दास रत्नाकर, मिश्रबन्धु तथा कृष्ण बिहारी मिश्र आदि

इस मत के मानने वालों में से अब भी वर्तमान हैं। ये कभी-कभी कविता केवल ब्रजभाषा में ही किया करते हैं। तीसरे प्रकार के वे लोग हैं जो किसी एक भाषा के भक्त नहीं। वे कहते हैं कि दोनों भाषाओं में अलग-अलग कविता कीजिए जो विषय पूर्ण उत्तमता के साथ खड़ी बोली में लिखा जा सकता है वह ब्रजभाषा में भी लिखा जा सकता है। लिखना आना चाहिए और भाव अच्छे होने चाहिए। एक कवि के शब्दों में "भाव अनोखे चाहिये भाषा काहू होय" ही ठीक है। इस दल वालों में खड़ीबोली के आचार्य कहलाने वाले श्रीधर पाठक भी सम्मिलित हैं। स्वर्गीय राय देवी प्रसाद 'पूर्ण' इसके उच्च कोटि के कवि थे और भी इसके मानने वाले वर्तमान समय में कई कवि हैं।

आधुनिक छन्दों के विषय में इस समय वस्तुतः कोई मतभेद नहीं। सोरठा, दोहा, घनाक्षरी, सवैया आदि का प्रयोग इस समय लोग बहुत ही कम करने लगे हैं। इनके स्थान पर अधिकतर कुछ नये-नये छन्द भी प्रयोग में आने लगे हैं। पुराने छन्दों का व्यवहार ब्रजभाषा वालों के सिवाय और कोई नहीं करता। रोला, षट्पदी (पुराना छप्पय) संस्कृत में ही अधिक प्रयोग होने वाले कुछ छन्द जैसे हरिगीतिका, मालिनी तथा द्रुतविलम्बित आदि और उर्दू के कुछ छन्द आजकल अधिकतर लिखे जा रहे हैं। अन्त्यानुप्रास रहित कविता तथा मुक्तक छन्दों का प्रयोग भी अब दिनोंदिन अधिक देखने में आ रहा है। कोई-कोई कवि कभी-कभी चतुर्दशपदी अर्थात् अंग्रेजी का Sonnet भी प्रयोग करने लग गए हैं। इनमें से काशी के जयशंकर 'प्रसाद' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनकी चतुर्दशपदियाँ 'इन्दु' नामक मासिक पत्रिका में पहले बहुत प्रकाशित हुआ करती थीं और बहुत मनोहारिणी भी होती थीं। अन्य भाषाओं के अनुसार हिन्दी में भी अब अधिकतर छोटे-छोटे छन्दों का ही प्रयोग होना आरम्भ हो गया है।

इसी प्रकार आधुनिक हिन्दी कविता की शैली में भी बहुत अन्तर

आ गया है। कवियों ने समय के अनुसार सीधे आडम्बर रहित शैली में कविता लिखना आरम्भ कर दिया है। बहुधा कविता के ढंग उसके विषय के ही अनुसार हुआ करते हैं और यही दशा उनके छन्दों की भी है। इसलिए आजकल जिस प्रकार व्यवसाय तथा व्यवहार का समय बीत रहा है, उसी प्रकार सर्वदा अपने कामों में लगे हुए सर्व-साधारण के पढ़ने योग्य छोटी-छोटी भावपूर्ण तथा रोचक कविताओं का ही सीधी-सादी भाषा में लिखा जाना अधिक आवश्यक है, यही विचार-प्रणाली धीरे-धीरे कवियों की होती जा रही है। अब शब्दालंकारों तथा महाकाव्यों का समय नहीं रहा।

विषय के अनुसार भी आधुनिक कवि कई वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं। किन्तु एक बात जो लगभग सभी में दिखलायी पड़ती है वह राष्ट्रीयता का भाव है। अभाग्यवश हिन्दी कविता में इसकी बड़ी ही कमी थी। अधिकतर कविगण या तो भगवद्भक्त हुआ करते थे या शृंगार-रस के प्रेमी "सेवा में तेरी भारत तन मन लगायेंगे हम" वा "तेरे लिये जियेंगे तेरे लिए मरेंगे" का कहीं नाम भी नहीं था। नव रसों को ग्यारह वा इससे भी अधिक बनाने की चेष्टा करना तथा इन्हें बात-बात में निचोड़ कर पुस्तकें भर देना अथवा नायक-नायिकाओं के भेद और अलंकारों की समीक्षा में यत्न करते-करते बाल की खाल निकालना कवियों के लिए कर्तव्य-सा हो गया था। यदि वे प्रकृति की छटा का भी वर्णन करने लगते तो विचित्र पुराने ढंग से। इनके ऋतु-वर्णन तथा नखशिख-वर्णन को देखकर इनकी भावुकता नहीं, शब्दाडम्बरता का पता चलता है। खण्डकाव्यों या महाकाव्यों में पहले की भाँति कविता करने की प्रणाली अभी नहीं गई है, किन्तु इतना अवश्य हो गया है कि विषयों के वर्णन करने का ढंग कुछ और हो गया है। विषय भी साथ ही साथ बदलने लगे हैं। आजकल के कुछ कवियों पर छायावाद का प्रभाव देखने में आ रहा है।

छोटी-छोटी विभिन्न भावों से भरी कविताओं के संग्रह प्रकाशित करने की अब अधिक धुन है। आवेश में आकर कई नवीन कवि आजकल विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में छपायी हुई अपनी-अपनी कविताओं के 'तरंग' "मित्रों के अनुरोध से विवश होकर" पाठकों को समर्पित करने लग गए हैं। ढंग तो यह अवश्य अच्छा है, क्योंकि मित्रमण्डली कुछ दिनों के लिए कविवर की 'विजय माला' हाथोंहाथ लिये फिरती है। किन्तु ऐसे महापुरुष बहुधा उस भविष्य को ध्यान में नहीं लाते, जबकि पूरी सफलता मिल जाने पर भी उनकी लड़कपन जैसी अशुद्धियाँ देखकर मन कुढ़ा करता है। हिन्दी के एक प्रसिद्ध लेखक महोदय का कहना है कि पहिले की लिखी हुई मेरी कविताओं के प्रकाशित संग्रह की यदि सारी प्रतियाँ आज मुझे मिल जायँ तो उन्हें अग्निदेव में भस्म कर डालूँ और मेरे चित्त में बड़ी शान्ति आ जाय। जो हो, कविताएँ लिखी जा रही हैं और छपती चली जा रही हैं। हमारे कवियों को इसकी परवाह नहीं कि उनमें से एक पंक्ति भी स्थायी रह जायेगी अथवा नहीं।

ऐतिहासिक विषयों पर भी कविताएँ आजकल बहुत देखने में आ रही हैं। किन्तु उनकी वर्णन-शैली में अभी उचित सुधार नहीं हुए। अधिकतर कवि प्राचीन प्रणाली का ही अनुकरण करते चले जा रहे हैं। यह बात अवश्य है कि छन्दबद्ध ऐतिहासिक घटनाओं में तथा उन्हीं के गद्यमय रूप में शैली का अन्तर होना चाहिए। परन्तु इसके साथ यह भी बात अवश्य ध्यान में रखने योग्य है कि कवित्व-शक्ति का उमंग कहीं इतना अधिक न बढ़ जाय कि अत्युक्ति की ही भरमार हो जाय। कवि की विशेषता इसी में है कि इतिहास लेखक द्वारा वर्णन की गई घटना को रस तथा भावुकता द्वारा सिक्तकर दे जिसे शुष्कता के स्थान पर सरसता और स्पष्टता के स्थान पर भावुकता का स्वाद प्रेमी पाठकों को पदे-पदे मिलने लगे। किसी अरुचिकर विषय को रुचिकर बना देने का गुण कविता को ही प्राप्त है। प्रकृतिगत विषयों को लेकर पद्य-रचना

पहले भी की जाती थी, किन्तु वर्णन-शैली में ऐतिहासिक विषयों के वर्णन के ही समान कुछ विलक्षण ढंग थे। आधुनिक कवि अब फूलों, वृक्षों, लताओं, पर्वतों तथा नदियों को और ही दृष्टि से देखने लगा है। पहले का कवि प्राकृतिक दृश्य की बाहरी छटा को देखते ही शब्दालंकारों के झंकारों से भरी भाषा में तान अलापने लगता था, किन्तु आधुनिक कवि को इतने कोलाहल की आवश्यकता नहीं। वही सीधी-सादी बोली में ही अपने मन की दो-दो बातें कह देना अधिक पसन्द करता है। यही दशा प्रेमी कवियों की भी है। एक तो वे स्तुति से अधिक प्रेम करने वाले ही नहीं रह गए। यदि कभी-कभी दो-चार प्रार्थनाएँ लिख भी दिया करते हैं तो उसमें भी सीधे ढंग से कहने की अधिक चेष्टा किया करते हैं।

इस प्रकार सारी बातों का साधारण आलोचना करने पर भी जान पड़ता है कि हिन्दी भाषा की कविता के नये दिन आ गए हैं। किन्तु आधुनिक कवियों में से अधिक पर पुराना संस्कार ही जमा हुआ है। यही कारण है कि उन्नति कुछ धीरे-धीरे हो रही है। भाषा तो अवश्य बदल गई है, किन्तु अभी बड़े-बड़े संस्कृत वाले शब्दों का व्यवहार करना हमारे धुरंधर कवि लोग अपने कवित्व का गुण मान रहे हैं। छन्दों का प्रयोग भी स्वतंत्र नहीं हो रहा है, तोड़-मरोड़ के साथ संस्कृत वृत्तों में लिखने की नयी परिपाटी कभी-कभी हास्यास्पद हो जाया करती है। मुक्तकों के ऊटपटांग रूप के विषय में तो कहना ही क्या इन सब बातों का तथा विषयों की आधुनिक दरिद्रता का कारण एक ही जान पड़ता है और वह है हिन्दी के कवियों का केवल पाण्डित्य-प्रदर्शन कर नाम कमाने अथवा दिल बहलाने के लिए कविता करना। आधुनिक हिन्दी के कवियों में आजकल ऐसे लोग बहुत ही कम होंगे जो अपनी कविता कवि होकर लिखते हों। कविता का करना केवल पद्यमय वाक्यों के रचने पर ही निर्भर नहीं है। उत्तम कविता की इच्छा रखने वाले को उच्च श्रेणी के कवि का जीवन व्यतीत करना पड़ता है। कविता किसी के मनोवेग पर

नहीं, किन्तु उसके भावमय जीवन पर अवलम्बित रहती है। बिना किसी पूर्ण उद्देश्य अर्थात् मिशन के कवि होना अत्यन्त कठिन है। कवि संसार में स्वर्गदूत के समान आया करता है और अपने सारे जीवन को अपने मिशन के रंग में ही रँगता हुआ अपना सन्देश देकर चला जाता है। कबीर, तुलसी, सूर, शेली, कीट्स, वर्ड्सवर्थ, टेनिसन और बायरन तथा ग़ालिब, हाफिज इत्यादि के जीवन का कुछ उद्देश्य था। इसकी गवाही उनकी एक-एक पंक्ति से मिल सकती है। जब तक एक भाव में कोई मनुष्य तन्मय न हो जाय, तब तक उसमें उत्तम कविता कैसे कर लेगा यह बात असंभव है। हर्ष की बात है कि कुछ नवयुवक कवियों के हृदय में यह बात बैठती-सी जा रही है।

यह दशा ऐसी है जिसमें विश्वमयता तथा व्यक्तित्व के सामञ्जस्य के कारण विषय का दारिद्र भी सर्वदा के लिए दूर हो जाता है। भाषा भी अपना गौण अर्थ छोड़कर हृदय की भाषा हो जाती है। शब्द-योजना का स्थान भाव-व्यंजना ग्रहण कर लेती है और कृत्रिमता के सिंहासन पर स्वाभाविकता आ विराजती है। इसी समय सच्चे मौलिक ग्रंथ-रत्नों का प्रादुर्भाव होता है और साहित्य को सदा के लिए अजर-अमर कर देना ऐसे ही सुअवसरों का काम होता है। हिन्दी कविता की सभी त्रुटियाँ उस दिन दूर हो जायँगी, जबकि इसके लिए सच्चे लेखक यत्न करना आरम्भ कर देंगे, जबकि कविता इसलिए नहीं लिखी जायेगी कि विशेष समय का प्रादुर्भाव है, किन्तु इसलिए कि इसके कवियों में भावों की लहरें क्षण-क्षण उठती हुई उनके हृदयों को चलायमान करती रहेंगी तथा उनके कविता लिखने के सिवाय और कुछ करते ही न बनेगा ; ओतप्रोत भरे रहने के कारण प्याला बिना छलके रह नहीं सकता।



आधुनिक हिन्दी कविता का प्रथम अध्याय

१. उपक्रम

वर्तमान हिन्दी कविता से हमारा तात्पर्य उन पद्यमयी रचनाओं से है जो उन्नीसवीं ईसवी शताब्दी के द्वितीय अर्द्धांश में अर्थात् सन् १८५० के अनन्तर प्रस्तुत की गईं। यह वह समय है जब कि अंग्रेजों के शासन के प्रभाव स्पष्ट होने लगे थे, जबकि अंग्रेजी साहित्य का प्रचार क्रमशः बढ़ने लगा था, जबकि योरुप के विभिन्न प्रदेशों में संस्कृत भाषा के अस्तित्व का पता लग चुका था और जबकि अनेक विद्या-व्यसनी विद्वानों ने संस्कृत साहित्य का पूरी श्रद्धा के साथ अनुशीलन आरम्भ कर दिया था, जबकि थियासोफिकल सोसायटी आदि कतिपय समितियों ने भारतीय संस्थाओं तथा भावनाओं के समझने-समझाने का भार अपने ऊपर ले लिया था, जबकि स्वयं भारतीयों ने बाहर के देशों में जाकर वहाँ की विभिन्न परिस्थितियों की देखभाल स्वीकार कर ली थी तथा जबकि अनवरत अध्ययन एवं तुलनादि के परिणामों से प्रेरित होकर उन्होंने अपने प्राचीन धर्म की सच्ची मीमांसा तथा अपने वर्तमान समाज की कड़ी आलोचना द्वारा अनेकानेक आन्दोलनों को जन्म दे दिया था और जबकि रेल, तार, प्रेस आदि कई नवीन साधनों के प्रभाव से पारस्परिक संपर्क में वृद्धि आ जाने के कारण भारतीयों के हृदय तक में सही भावना का उदय तथा एक नवीन जागृति का धीरे-धीरे अनुभव होने लगा था। प्रान्तीय भाषाओं तथा उनके साहित्यों पर इन उपर्युक्त बातों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था और ऐसा ही हुआ। बंगला, हिन्दी, मराठी, उर्दू

तथा गुजराती आदि में इस समय ऐसे-ऐसे लेखकों और कवियों का आविर्भाव हुआ जो उपर्युक्त वातावरणों में ही जन्म लेकर पले थे और जिन पर वर्तमान युग की छाया स्पष्ट एवं गहरी थी।

माइकेल, वंकिम, हेम, नवीन, हरिश्चन्द्र, चिपलूणकर, हाली और दलपतराम के नाम इनके उदाहरण स्वरूप लिये जा सकते हैं। वर्तमान हिन्दी कविता की उत्पत्ति ऐसे ही समय में हुई। इसी कारण इसका प्रथम रूप एक नये युग के सूत्रपात की सूचना देता है तथा साथ ही भारतीयता की अतीत तथा वर्तमान दशाओं की ओर संकेत भी करता है।

परन्तु जिस प्रकार नये युग के आरम्भ में परिस्थितियों की अनस्थि-रता के कारण भावों की अनस्थिरता भी अनिवार्य है, उसी प्रकार ज्यों-ज्यों भावों में परिवर्तन होते जाते हैं, त्यों-त्यों कविता का रूप-परिवर्तन होता जाता है। परिणाम इसका यह होता है कि समयानुसार आगे बढ़ती हुई सरिता में मिल जाने वाली अनेक विभिन्न धाराओं की भाँति कविता मन्दाकिनी में अनेक विचार-प्रवाहों का समावेश होता जाता है और विचारपूर्वक ध्यान देने से एक ही साथ चलते हुए भिन्न-भिन्न प्रवाह दृष्टिगोचर होते हैं। वर्तमान हिन्दी कविता में कई विचार-स्रोत ऐसे आये हैं जो यद्यपि इस कविता के पूर्व काल में कभी किसी न किसी रूप में अवश्य वर्तमान थे, किन्तु जिनके रूप में कई अन्य धाराओं के साथ बहने के कारण बहुत कुछ अन्तर आ गए हैं। उदाहरण के लिए राष्ट्रीय भावों के जो रूप हम प्राचीन चारण गाथाओं में पाते हैं वे भूषण की कविता में नहीं दीख पड़ते और न भूषण द्वारा प्रदर्शित रूप हरिश्चन्द्र अथवा मैथिलीशरण गुप्त में मिलते हैं। इसी प्रकार कबीर द्वारा प्रदर्शित धर्म तथा समाज-सुधार की योजना तुलसी, हरिश्चन्द्र तथा 'शंकर' आदि में भिन्न-भिन्न रूपों में दिखलायी देता है। ये सब परिणाम परिस्थितियों की भिन्नता तथा विभिन्न धाराओं के समयानुसार

मन्द अथवा तीव्र होकर न्यूनाधिक प्रभाव डालते रहने के कारण हुआ है। हमको वर्तमान हिन्दी कविता के आरम्भ अर्थात् ईसवी सन १८५० के लगभग से लेकर आज तक के विकसित रूप पर विचार करना है और देखना है किस प्रकार इस पर विभिन्न अवस्थाओं का प्रभाव पड़ता गया। उसके कारण इसमें कौन-से विशेष परिवर्तन होते गए, किस विचार-धारा की गति कैसी रही, उसमें कहाँ तक उन्नति हुई तथा उसके भविष्य के विषय में हम कहाँ तक अनुमान कर सकते हैं। इसके साथ ही हमें यह भी देखने का यत्न करना है कि वर्तमान विचार-स्रोत का मूल स्थान वास्तव में कहाँ पर है। इस उद्योग के समय हम विशेष कर हिन्दी साहित्य में ही आधार ढूँढ़ना चाहेंगे, किन्तु अवसरानुकूल हमें संस्कृत, अंग्रेजी, तथा प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यों से भी काम लेना पड़ेगा।

देश में समय-समय पर जो प्रसिद्ध आन्दोलन होते रहे हैं अथवा यथावसर जिन महान व्यक्तियों के आविर्भाव से देश की जनता को नयी भावनाएँ अपनानी पड़ी हैं उन सबके प्रभावों की हमें एक विश्लेषणात्मक आलोचना भी करनी पड़ेगी। इन सभी कारणों की मीमांसा हम कविताओं के उदाहरणों द्वारा करेंगे।

परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी हमें यह न भूलना चाहिए कि मनुष्य परिस्थितियों की केवल कठपुतली मात्र ही नहीं है और न उसके द्वारा निर्माण की गई कोई संस्था अथवा रचना केवल विशेष वातावरण में वृद्धि अथवा पुष्टि पाने वाले कीट भृंगों की भाँति एक विशेष रंग ही धारण किया करता है। मनुष्य का व्यक्तित्व वास्तव में विशिष्ट होगा और उसी भाँति उसकी संस्था अथवा रचना के रूपों में भी अवश्य ही कोई न कोई विशेषता होगी। वर्तमान हिन्दी कविता की समालोचना करते समय उसके भिन्न-भिन्न कवियों की व्यक्तिगत विशेषता की ओर भी ध्यान देना, इसी कारण, परमावश्यक होगा। किसी विशेष रचना पर दृष्टि डालते हुए यह भी देखना होगा कि उस पर उसके रचयिता की

छाप कितनी गहरी पड़ी है। इसके सिवाय विभिन्न रचनाओं की पारस्परिक तुलना करते समय उनके रचयिताओं की भी तुलना की जायेगी। इस प्रकार यह निर्णय हो सकेगा कि किस कवि का स्थान अपने समसामयिक कवियों में कितना ऊँचा है तथा वह कहाँ तक अपने व्यक्तित्व तथा अपनी कीर्ति के आधार पर स्थायी रचना करने में समर्थ है।

वर्तमान समय के हिन्दी कवियों में बहुत से ऐसे हुए हैं जिन्होंने एक ही विचार-धारा के अनुकूल अपने काव्य की रचना की है। किन्तु अधिकांश हिन्दी कवि ऐसे ही हुए हैं जिनका कोई अपना व्यक्तित्व नहीं और न कोई विशेषता है, जैसा समय देखेंगे लेखनी उठाकर लिखते चले जायेंगे। ऐसे लोगों के कारण किसी भी भाषा की कविताओं के आलोचक को अपने मतानुसार वर्गीकरण करते समय बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। वास्तव में कवियों का कोई व्यक्तित्व होता है या नहीं, किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति में ही वे कविता किया करते या नहीं, अपने-अपने समय की विभिन्न परिस्थितियों का किसी कवि विशेष पर कहाँ तक प्रभाव पड़ता है इन बातों का पूर्ण विवेचन किसी कवि की रचनाओं की आलोचना करने वाले कहाँ तक करने के अधिकारी हैं अथवा इन बातों की उपयोगिता ही क्या हो सकती है, इन सभी बातों के विषय में हमें इस स्थल पर विशेष रूप से कहने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि हमारा कार्य इस समय किसी सिद्धान्त के प्रतिपादन करने का नहीं, अपितु भाषा-विशेष के साहित्य के एक आवश्यक अंग की वर्तमान स्थिति की आलोचना मात्र करना है।

यह सब कुछ होते हुए भी अपने मतानुसार आजकल के प्रसिद्ध कवियों का वर्गीकरण करने की चेष्टा हम अवश्य करेंगे और यथासमय उनकी प्रतिभा का विश्लेषण करेंगे। उनकी विशेषता का निरूपण करेंगे और यह दिखलाने का यत्न करेंगे कि अपने विषय से अतिरिक्त बातों पर भी किसी कवि ने कहाँ तक सफलता पायी है तथा विभिन्न

प्रकार की रचनाओं के कारण अपने वर्गवाले कवियों में उसका क्या स्थान है।

हरिश्चन्द्र के समय से लेकर आज पर्यन्त जिन भावों का क्रमशः विकास होता गया है तथा जिन विशेष कारणों से उनमें वृद्धि अथवा ह्रास की सम्भावना हुई है उन सबका भी विवेचन किया जायेगा।

हिन्दी की वर्तमान कविता में जिन विचार-स्रोतों की ओर हमारा ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट होता है उनमें से मुख्य ये हैं—(१) राष्ट्रीयता के भाव (२) सामाजिक सुधार अथवा नैतिक उपदेश (३) प्राकृतिक दृश्य एवं घटनाएँ (४) साहित्यिक परंपरा (५) रहस्यवादादि सम्बंधी भावनाएँ। इन सबके विषय में हम क्रमशः लिखने की चेष्टा करेंगे और अन्त में यह भी दिखलायेंगे कि हमारी वर्तमान हिन्दी कविता की बहिरंग परीक्षा करने पर कौन-से अन्तर देखने में आते हैं। किस प्रकार भाषा में परिवर्तन हो गए हैं, कैसे छन्दों के प्रयोग विशेष रूप से हो रहे हैं, कौन-सी रचना-शैलियाँ बरती जा रही हैं तथा इन सबमें अपने विषयादि से कहाँ तक सामञ्जस्य है।

३. राष्ट्रीयता के भाव

राष्ट्रीयता के भावों के उदाहरण पहले की हिन्दी कविताओं में भी किसी न किसी रूप में देखने को मिलते हैं। हिन्दी साहित्य के प्राचीन चारण युग में जबकि चन्द, जगनिक, नरपतिनाल्ह आदि कवि रचना कर रहे थे, हिन्दी भाषाभाषी जातियों में अपने वंश अथवा कुटुम्ब की मर्यादा का ध्यान विशेष रूप से रहता था। इस कारण जब कभी व्यक्तिगत द्वेष अथवा महात्वाकांक्षा से प्रेरित होकर एक वंश के वीर दूसरे वंश के वीरों के साथ युद्ध ठान देते थे और रणक्षेत्र में सिपाहियों को उत्साहित करते रहने की आवश्यकता पड़ती थी तो उस समय के भाट और कवि अपनी जाति के पूर्वजों के गौरव, अपने देश की पवित्रता,

अपनी स्त्रियों की मान-मर्यादा तथा इन सबकी रक्षा के लिए आत्म-त्याग की उपयोगिता पर अनेक पद्य रचनाएँ करते थे। उस समय के लिखे गए रासो आदि ग्रंथों में भी ऐसा कविताओं के कई उदाहरण मिल सकते हैं। इन रचनाओं में राष्ट्रीयता के भावों का बहुत कुछ सन्निवेश है, क्योंकि यद्यपि

फेरि न जननी जनमि हैं, फेरि न तीर कमान।
सात वार तुम चूकेऊ, अब न चूक चौहान॥

अथवा—

बीस वरिस लगि छतिरी जीवैं,
आगे जीवन को धिरकार।

आदि में संबोधन एक क्षत्री अथवा उससे भी परिमित सीमा के अन्दर एक चौहान वंश विशेष की ओर लक्ष्य करके हुआ है, तथापि इस दृष्टि से कि उस समय भारतीयता के भाव उतने विस्तृत और पूर्ण नहीं थे जितने की आजकल राष्ट्रीयता के भाव बहुत अंशों में वर्तमान हैं। कवि की भावना अपनी जाति की भावनाओं का ही अनुसरण करती है और आनुवंशिक धारणा की अवहेलना करना विरले व्यक्ति का ही काम है। इस कारण ये भाव प्रान्तीयता अथवा साम्प्रदायिकता की गंध वर्तमान रहने पर भी राष्ट्रीयता के ही द्योतक हैं।

हिन्दी साहित्य के मध्यकाल अर्थात् भक्तिकाल तक उपर्युक्त भाव कुछ और विस्तृत रूप में दिखलायी पड़ने लगे। कारण यह था कि उस समय तक बाहर देश से में आनेवाली एक भिन्न जाति ने अपना अड्डा जमा लिया था और अब उसका प्रभाव जो विरुद्ध होने के कारण यहाँ के निवासियों के लिए असह्य-सा जान पड़ता था, देश के प्रत्येक खण्ड पर पड़ता जा रहा था और उसकी बाढ़ रोकने के लिए कई जाति के लोग उद्यत होने लगे थे। परन्तु यह संघर्ष एक वंश का दूसरे वंश से मुटभेड़ मात्र नहीं था, अपितु यदि उस समय के सभी विरोधी एक हो जाते तो भी लड़ाई एक ही हिन्दुत्व का भाव लेकर चल सकती थी। यह संघर्ष एक धर्म का

दूसरे भिन्न धर्म के साथ था। इसी कारण सभी वंश अथवा कुटुम्ब के लोगों के मिल जाने पर भी एक ही धार्मिक भाव उन्हें उत्तेजित कर सकता था। कवि भूषण की कविताएँ इसी समय की रची हुई हैं। इस कारण यद्यपि इनमें 'साहितनैगिरजा' अथवा 'भोंसला भूपाल' या 'चकत्ता के घराने' की चर्चा सब कहीं दीख पड़ती है, तथापि इनका मुख्य उद्देश्य हिन्दुत्व की रक्षा तथा विधर्मियों का विनाश मात्र है। इसी कारण यह वीरपूजक तथा धर्मरक्षक कवि ने अपने आश्रयदाता की प्रशंसा केवल उसके इन्हीं ध्येयों के पालन में समर्थ होने के कारण की है। उसको इस बात में पूर्ण विश्वास है कि—

शिवाजी न होते तो सुन्नति होती सबकी।

परन्तु कविता में राष्ट्रीयता के भाव कई भिन्न-भिन्न प्रकार से व्यक्त किये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए यदि कोई प्राचीन जाति अपने पूर्व गौरव को खोकर दुरवस्था में पड़ चुकी है और संयोगवश, उसे फिर जागृत करने के लिए उद्योग किया जा रहा है तो उस दशा में उस जाति के लोग अपने प्राचीन महत्व का स्मरण करने के साथ ही अपनी वर्तमान दुर्दशा से उसकी तुलना करेंगे तथा अन्तःकरण से क्षुब्ध होकर कई प्रकार से दुःख प्रकाशित करते हुए हताश तक होने लगेंगे। कितने अपनी पूर्व महत्ता के गुणों का बारबार वर्णन करेंगे और बहुत-से उनकी ओर ध्यान दिला कर आवेशमय शब्दों द्वारा लोगों को उत्तेजित करने का यत्न करेंगे। आधुनिक हिन्दी कवियों ने यथावसर अपनी कविता द्वारा इन्हीं रीतियों से अपने-अपने भाव प्रकट किये हैं। सबसे पहले इन्होंने अपनी दुरवस्था का अनुभव किया और उसकी हीनावस्था पर अनेक बार आँसू बहाये। ऐसा करते समय उन्हें अपने पूर्व गौरव का स्मरण स्वभावतः हो आता था और वे गर्व से उत्तेजित होकर बहुधा कुछ आगे के लिए आशा तक बाँधने लगते थे। इन पूर्ववर्ती आधुनिक कवियों के विषय में एक बात और भी उल्लेखनीय है, वह यह कि जाति अथवा राष्ट्र-

शब्द से उनका अभिप्राय विशेषकर हिन्दू समाज से ही है, क्योंकि जहाँ कहीं उन्होंने राष्ट्रीय गौरव का गान किया है अथवा राष्ट्रीय दुर्दशा पर अश्रुपात किया है, वहाँ-वहाँ उन्होंने हिन्दू समाज को ही अपने ध्यान में रखा है। यहाँ तक कि नाटकादि लिखते समय वे भारत की राष्ट्रीयता को एकदम भूल-से गये हैं। आगे चलकर हम यथास्थल इन बातों की ओर अधिक ध्यान दिलायेंगे।

इस काल के सबसे बड़े और प्रसिद्ध राष्ट्रकवि गोलोकवासी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हैं जिनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा का प्रभाव विभिन्न रूपों में उनके लगभग २० वर्षों के ही परिमित साहित्यिक जीवन में प्रदर्शित हुआ था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र वास्तव में सच्चे प्रेमी और भक्त कवि थे। इस कारण, देश की जाग्रति के अवसर पर अपनी जाति की हीनावस्था को देख उनका उद्वेलित हो उठना एकदम स्वाभाविक था। देश प्रेम-सम्बंधी अथवा राष्ट्रीयता से सम्बद्ध उनकी सभी रचनाएँ ऐसे ही भावों से प्रेरित होने पर लिखी गई हैं। भारतवर्ष की दुरवस्था का दिग्दर्शन कराने के लिए उन्होंने 'भारत जननी' तथा 'भारत दुर्दशा' नामक दो रूपकों की रचना की है। भारत जननी के आरंभ में ही सूत्रधार कहता है—

"भारत भूमि और भारत सन्तान की दुर्दशा दिखाना ही इस 'भारत जननी' की इति कर्त्तव्यता है और आज जो यह आर्यवंश का समाज यह खेल देखने को प्रस्तुत है उसमें से एक भी भारत भूमि के सुधारने में एक दिन भी यत्न करे तो हमारे परिश्रम सफल हैं।"

भारत माता को इसमें आरम्भ से ही मैली साड़ी पहिने बाल खोले निद्रित-सी बैठी हुई दिखलाया है—भारत सन्तान उसके इधर-उधर सो रहे हैं। भारत सरस्वती, भारत दुर्गा तथा भारत लक्ष्मी उसे जगाकर सचेत करने के लिए क्रमशः आती हैं और उसके न सुनने पर नैराश्य के कारण रोती-रोती चली जाती हैं। लक्ष्मी के जाने पर भारत जननी का आलस्य

कुछ दूर होता है, और सोये हुए बच्चों को जगाकर 'दुखित माता को घोर दुःख से उद्धार करने' के लिए उद्योगशील बनाना चाहती है, किन्तु वे पहले उठकर फिर सो जाते हैं। तत्पश्चात् किसी प्रकार निद्रा-भंग होने पर भी कभी खाने को माँगते हैं, कभी अपनी निष्क्रियता तथा आलस्य को कोसते हैं और कभी-कभी महारानी विक्टोरिया से "कृपा कटाक्ष-निक्षेपण' करने की पुकार पुकार कर प्रार्थना करते हैं। एक साहब आकर उन्हें डाँटने लगता है, फिर दूसरा साहब उसे निकाल देता है। इसी के द्वारा कुछ आश्वासन मिलने पर धैर्य से भेंट होती है। अन्त में भारत जननी अपने बच्चों को उपदेशों द्वारा उत्साहित करती हुई ईश्वर से प्रार्थना करने लगती है।

इस प्रकार 'भारत जननी' में सिवाय दुःख रोने तथा अपनी निस्सहायता दिखलाने के और कुछ भी नहीं। कवि ने कहीं-कहीं अपने पूर्व गौरव का भी निदर्शन कराया है, किन्तु उससे कुछ भी उत्साह नहीं दिलाया। सारा अवलम्ब उसे महारानी विक्टोरिया की समवेदना प्रकट करने वाले कतिपय अंग्रेज तथा भगवान की दया मात्र का ही है। भारत की दुरवस्था को एक प्रकार कवि दूर ही से अनुभव करता है और देश की मानसिक स्थिति के पूर्व रूप से विकसित न हो चुकने के कारण, अभी वह अपनी दुर्बलता मात्र ही दिखलाने में समर्थ है। 'भारत-दुर्दशा' नामक रूपक के आदि में एक योगी द्वारा कवि ने एक लावनी गवायी है जिसका कुछ अंश हम नीचे उद्धृत करते हैं—

रोवहु सब मिलि कै आवहु भारत भाई।
हा-हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥
सबके पहिले जेहि ईश्वर धन बल दीनो।
सबके पहिले जेहि सभ्य विधाता कीनो॥
सबके पहिले जो रूप रंग रस भीनो।
सबके पहिले विद्याफल जिन गहि लीनो॥

अब सबके पीछे सोई परत लखाई।
हा-हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

+ + + +

अब जहँ देखहु, दुःखहि दुःख दिखाई।
हा-हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥ इत्यादि।

फिर आगे एक स्थान पर भारत से कहलाया है—

कोउ नहिं पकरत मेरो हाथ।
बीस कोटि सुत होत फिरत मैं हा-हा ! होय अनाथ।
जाकी सरन गहत सोइ मारत सुनत न कोउ दुख गाथ॥

दीन बन्यौ इत सों उत डोलत टकरावत निज माथ।
दिन-दिन बिपति बढ़त सुख छीजत देत कोऊ नहिं साथ।
सब बिधि दुखसागर मैं डूबत धाइ उबारो नाथ॥

किन्तु 'भारत जननी' और 'भारत दुर्दशा' नामक इन दोनों रूपकों में केवल थोड़ा-सा अन्तर है। 'भारत दुर्दशा' की घटना यह है—योगी के गाने पर पहले भारत आता है और वह अपने प्राचीन गौरव का स्मरण करता हुआ अपनी वर्तमान विवशता पर दुःखित होता है। उसे अंग्रेजों से भी विशेष आशा नहीं। दुर्दैव से भय खाकर वह पहले निर्लज्जता और फिर आशा से कुछ सान्त्वना पाता है, किन्तु दुर्दैव आखिर दुर्दैव ही ठहरा। सत्यानाश, रोग, आलस्य, मदिरा, अंधकार आदि उसे सहायता पहुँचाते हैं और वह भारत को और भी पीड़ित करके एकदम अचेत बना देता है। उसे सचेत कराने की चेष्टा में छह भारतीय—बंगाली, महाराष्ट्री, एडिटर तथा दो देशी महाशय—मिल कर एक सभापति के सभापतित्व में विचार भी करने लगते हैं तो डिसलॉयल्टी का भय उन्हें ऐसा करने नहीं देता। अन्त में भारत भाग्य

को अपने अधःपतन का अनुभव करते हुए यहाँ तक कह देना पड़ता है कि—

तुम में जल नहिं जमुना गंगा।
बढ़हु वेग करि तरल तरंगा॥
धोवहु यह कलंक की रासी।
बोरहु किन झट मथुरा कासी॥
कुस कन्नौज अंग अरु वंगहि।
बोरहु किन निज कठिन तरंगहि॥
बोरहु भारतभूमि सबै रे।
मिटै करक जीके तब मेरे॥

अहो भयानक भ्राता सागर।
तुम तरंगनिधि अति बल आगर॥
बोरे बहु गिरि बन अस्थाना।
पै बिसरे भारत हित जाना॥
बढ़हु न बेगि धाइ क्यों भाई।
देहु भरत भुव तुरत डुबाई॥
घेरि छिपावहु विंध्य हिमालय।
करहु सकल जल भीतर तुम लय॥ इत्यादि

फिर वह अपने मित्र भारत को उठाने की अनेक चेष्टाओं को निष्फल जाती हुई देख अपनी छाती में कटार मारकर गिर पड़ता है। इस प्रकार इन दोनों रूपकों में केवल यही अन्तर है कि 'भारत दुर्दशा' में देश की दुरवस्था के कारण स्वरूप दुर्दैव, आलस्य, आदि को भी दिखलाया है। कतिपय भारतीयों द्वारा सुधार की कुछ चेष्टा भी करा दी है, किन्तु इसका अन्त 'भारत जननी' के अन्त से अधिक भयानक

है। 'भारत जननी' में भारतमाता कुछ धैर्य का सहारा पाकर ईश्वर से प्रार्थना करती हुई अपने पुत्रों को उत्साह देने की चेष्टा भी करती है तो 'भारत दुर्दशा' में भारत को हम एकदम गाढ़ी नींद में पड़ा हुआ पाते हैं और देखते हैं कि उसको भारतभाग्य कितना भी जगाना चाहता है उसका निद्रा-भंग ही नहीं होता और अन्त में स्वयं भारतभाग्य को भी आत्महत्या कर लेनी पड़ती है। निराशावादिता की यह चरम सीमा है।

हरिश्चन्द्र ने 'नीलदेवी' नामक अपने ऐतिहासिक रूपक द्वारा 'हमारी गृहदेवता' अर्थात् स्त्रियों की 'वर्तमान हीनावस्था' को सुधारने की 'लालसा' से देश के अतीत गौरव का गान किया है, किन्तु वहाँ भी महाराज सूर्यदेव के मूर्छित होकर कैदखाने में पड़ने के समय वह एक देवता से निम्नलिखित लावनी कहलाता है—

सब भाँति दैव प्रतिकूल होइ एहि नासा।
अब तजहु बीरवर भारत की सब आसा॥
अब सुख सूरज को उदय नहीं इत ह्वै है।
सो दिन फिर इत अब सपनेहूँ नहिं ऐहै॥
स्वाधीनपनो बल धीरज सबहि नसैहैं।
मंगलमय भारतभुव मसान ह्वै जैहै॥
दुखही दुख करिहै चारहु ओर प्रकासा।
अब तजहु बीरवर भारत की सब आसा॥ इत्यादि

फिर आगे मुस्लिम रूपधारी एक चर उदास स्वर से गाता है—

कहाँ करुनानिधि केशव सोए।
जागत नेकु न यदपि बहुत बिधि भारतवासी रोये॥

इसके सिवाय कवि द्वारा प्रदर्शित राष्ट्रीयता का भाव भी इन तीनों उपर्युक्त रूपकों में संकुचित है। कवि के लिए देश की एकता आवश्यक है, किन्तु हिन्दू तथा मुसलमानों के बीच एक प्रकार की चौड़ी खाई-सी

बनी हुई है। धर्म की विभिन्नता का भाव अभी पूर्णरूप से आ नहीं पाया है और कवि के समक्ष सदा आर्य रक्त के ही गौरव का आदर्श उपस्थित रहता है। यही नहीं, कवि की रचना का प्रभाव पाठकों अथवा दर्शकों के ऊपर राजनैतिक रूप में न पड़कर केवल नैतिक अथवा सामाजिक रूप में पड़ता है। जान पड़ता है कि जिन दुर्दशाओं का प्रदर्शन किया जा रहा है वे सब राजनीतिक स्वतंत्रता के अभाव से नहीं, अपितु दुर्दैव के फेर से हो रही हैं।

उपर्युक्त बातें हरिश्चन्द्र की ही रचनाओं में समाप्त नहीं हो जातीं, प्रत्युत उनका प्रभाव उनके समकालीन तथा कुछ उनके पीछे आने वाले कवियों तक पर पड़ा हुआ स्पष्ट रूप से दीख रहा है। हरिश्चन्द्र के मित्र बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' की कविताओं के भी कुछ नमूने लीजिए—

भागो भागो अब काल पड़ा है भारी।
भारत पै घेरी घटा विपत्ति की कारी॥
सब गये बनज व्यापार इते सों भागी।
उद्यम पौरुष नसि दियो बनाय अभागी॥

अथवा—

पै कुछ कही न जाय, दिनन के फेर फिरे अब।
दुरभागनिसों इत फैले फल फूट बैर जब॥
भयो भूमि भारत में महा भयंकर भारत।
भये वीर वर सकल सुभट एकहि संग गारत॥

फिर—

कौन भरोसे अब इत रहिए कुमति आय घर घाली।
फूल्यौ फूट बैर फलि फैल्यो बिधि ही कठिन कुचाली॥

इनमें 'अभागी', 'दिनके फेर' तथा 'विधि ही कठिन कुचाली' आदि के प्रयोग विशेषरूप से ध्यान देने योग्य हैं। अपने काव्य 'आनन्द अरुणोदय' में भी 'प्रेमघन' ने जिस एकता की ओर लक्ष्य करके हर्ष-प्रकाशन किया है वह उन्हीं के शब्दों द्वारा स्पष्ट है—

आर्य वंश को करो एक अब द्वैत भेद बिनसाओ।
मन बच कर्म एक हो वेद विदित आदर्श दिखाओ॥

प्रताप नारायण मिश्र की कविता में भी हमें धार्मिकता का पुट विशेष रूप से देखने को मिलता है और ये भी भारत की दुरवस्थाओं का एक-एक करके गिनाने में अपने योग्य नेता के ही समान चतुर हैं। किन्तु समय-भेद के कारण इस कवि की रचनाओं में राजनैतिकता की छाया कुछ अधिक मात्रा में दीख पड़ती है, जैसे उनकी 'क्रन्दन' नामक कविता में—

जहाँ कृषी वाणिज्य शिल्प सेवा सब माहीं।
देशिन के हित कछू तत्व कहुँ कैसहु नाहीं॥

+ + +

जहँ महीप लगि रेजिडेंट सों यहि डर डरहीं।
अस न होय कछु तनक रूठि धन धामहिं हरहीं॥

+ + +

नित घेरे ही रहत दुसह दारिद दुचिताई॥
यहि कर केवल हेतु महँ जो नये नये नित।
कर अरु चंदा देन परैं प्रति प्रजहिं अपरिमित॥
कछु काम कोउ करै कहुँ ते कोऊ आवै।
कहुँ कछु घटना होय हिन्द ही द्रव्य लगावै॥

लेनहार सुख दुःख आय व्यय कबहु का पूँछै।
देत देत सब भाँति होहि हम छिन छिन छूँछे॥

\+ + +

चलत जिते कानून इहाँ उनकी गति न्यारी।
जस चाहहिं तस फेरि सकहिं तिनकहँ अधिकारी॥
बड़े बड़े बारिस्टर बहुधा बकि बकि हारैं।
पै हाकिम जब जस जिय चाहैं तस करि डारैं॥

\+ + +

प्रजा न जानहि कौन इकट केहि अर्थ बन्यो कब।
पै अचरज तेहि बन्धन महँ नित कसे रहत सब॥

\+ + +

उदर हेत जे शिर बेंचन पलटन महँ जाहीं।
गोरे रंग बिनु ठीक आदरित वेऊ नाहीं॥

दुःख-गाथा वर्णन-प्रणाली का अनुसरण बहुत दिनों तक किया जाता रहा है और लोचनप्रसाद पाण्डेय, 'सनेही' तथा शम्भूदयाल आदि ऐसे कवियों में से हैं।

परन्तु हरिश्चन्द्र तथा उनके समकालीन और अनुसारी कवियों को अपने देश के प्राचीन गौरव में पूर्ण विश्वास है और इस बात के प्रमाण हमें उनकी रचनाओं में सब कहीं देखने को मिलेंगे। 'भारतदुर्दशा' में हरिश्चन्द्र प्राचीन भारतवासियों की प्रशंसा में एक स्थान पर कहलाते हैं—

ये कृष्ण बरन जब मधुर तान,
करते अमृतोपम, वेद गान।

तब मोहत सब नर नारि वृन्द,
सुनि मधुर बरन सज्जित सुछन्द ।

\+ + +

इनहीं के क्रोध किये प्रकास ।
सब काँपत भूमण्डल अकास ॥
इनहीं के हुंकृति शब्द घोर ।
गिरि काँपत हे सुनि चारु ओर ॥
जब लेत रहे कर में कृपान ।
इनहीं कहँ हो जग तृन समान ॥
सुनि के रन बाजन सेन माहिं ।
इनहीं कहँ हो जिय संक नाहिं ॥

'भारत वन्दना' नामक कविता में 'प्रेमघन' ने निम्नलिखित उद्गार प्रकट किये हैं —

जय जय भारत भूमि भवानी ।
जाकी सुयश पताका जग के दसहूँ दिसि फहरानी ॥
सब सुख सामग्री पूरित ऋतु सकल समान सुहानी ।
जाकी शोभा लखि अलका अरु अमरावती खिसानी ॥
धर्म सूर जित ज्यों नीति जहँ गई प्रथम पहिचानी ।
सकल कला गुन सहित सभ्यता जहँ सो सबहिं सुझानी ॥

\+ + +

कालहु सम अरि तृन समझत जहँ के छत्री अभिमानी ।
वीर वधू बुध जननि रहीं लाखन जित सती सयानी ॥

\+ + +

जाको अन्न खाय ऐंडति जग जाति अनेक अघानी।
जाकी सम्पति लुटत हजारन बरसन हूँ न खोटानी ॥

+ + +

प्रनमत तीस कोटि जन अजहूँ जाहि जोरि जुग पानी।
जिनमें झलक एकता की लखि जगमति सहमि सकानी ॥

राधाकृष्ण दास को भी प्राचीन गौरव का बहुत ध्यान है और उनके नाटकों से भी केवल हिन्दुत्व का ही आदर्श प्रतिपादित होता है। फिर प्रतापनारायण मिश्र का तो यह महामंत्र ही है कि—

चहहु जु साँचो निज कल्यान।
तो सब मिलि भारत सन्तान ॥
जपो निरन्तर एक ज़बान।
हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान ॥

अतएव यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समकालीन कवियों के हृदय अपने देश तथा समाज की दुर्दशा से पीड़ित हो उठे। वे प्रतिदिन आँखों के समक्ष इसका अनुभव करके अपने प्राचीन गौरव और अन्य देशों की सामाजिक स्थिति से वर्तमान दशा की तुलना करके उसके प्रतिकार के लिए व्याकुल हो रहे थे। परन्तु देश के लिए वह समय ऐसा था, जबकि सिवाय ईश्वर और इंगलैण्ड की ओर ध्यान देने के देशवासियों को कोई दूसरा चारा ही दृष्टिगोचर नहीं होता था। इसी कारण, कवि गण बारबार प्रार्थना करके ही चुप रह जाया करते थे। चूँकि कोरी प्रार्थना सदा निष्फल हुआ करती है और अन्त में सवाल पूरी न हो सकने के कारण फक़ीर की सी मायूसी दिन-दिन बढ़ने लगती है, हमारे उन कवियों को सिवाय निराशा के बहुधा और कुछ भी हाथ न लगता था। परन्तु उनका देशानुराग सच्चा था और अपनी-अपनी सूझ-समझ के अनुसार उन्होंने सब कुछ होते हुए भी आशा की क्षीण किरणों से

प्रेरित होकर अपने प्राचीन हिन्दू आदर्शों को एक बार फिर लौटाने, देशभर को एक भाषा-सूत्र में बाँधने तथा समाज में अच्छे भावों के प्रचार करने आदि, अनेकानेक साधनों को अपना कर तथा उन्हें अपनाने के लिए देशवासियों को उपदेश देना आरम्भ कर दिया था। इन उद्योगों का प्रभाव यह पड़ा कि पाठकों में तथा भावी कवियों में अपनी मातृ-भूमि के प्रति अनुराग जाग्रत होने लगा और वे अपने प्राचीन इतिहास का अध्ययन करने तथा आदर्श महापुरुषों के जीवन और उनकी कीर्तिमयी गाथाओं को बारबार सुनने-सुनाने लगे। परन्तु इस प्रथम अध्याय का स्वर विद्रोही न होकर व्यथा-व्याकुल एवं आत्म-ग्लानि व्यंजक है।

फिर भी राष्ट्रीयता का जो स्वरूप आज स्वातंत्र्योत्तर काल में हमारे सामने है वह अपने पूर्ववर्ती रूपों से सर्वथा भिन्न है। इस बीच जो मूल्य-परिवर्तन हुए हैं उनको लक्ष्य किये बिना जो लोग राष्ट्रीयता की दुहाई देते रहते हैं वे तथ्य से दूर जा पड़ते हैं। आज का भारत न तो देवताओं की लीला-भूमि मात्र है, न हमारी भारत माता। इसे हम किसी राष्ट्र का प्रतिद्वन्द्वी भी नहीं बतला सकते जिस कारण, किसी अन्य राष्ट्र को हेय ठहराने का अवसर उपस्थित हो। वास्तव में, सह-अस्तित्व तथा सहयोग की प्रेरणा से दूसरों की भाँति हम भी अखिल विश्व के अंग बन चुके हैं जिनका लक्ष्य मानव-मात्र का कल्याण है।

---

१२. 'चंड कौशिक' और 'सत्य हरिश्चन्द्र'

'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक भारतेन्दु बाबूहरिश्चन्द्र की एक उत्कृष्ट रचना है। इसमें, बाबूसाहब के ही शब्दों में 'सूर्यकुल संभूत राजा हरिश्चन्द्र की कथा है' और, 'सत्य पथ पर चलने वाले कितना कष्ट झेलते हैं', यही इसमें दिखाया है। यह नाटक सं० १६३२ में बना था और 'काशी पत्रिका' के प्रथम और द्वितीय भाग के बारह अंकों में प्रकाशित हुआ था। तब से आजतक यह कई बार पुस्तकाकार छपा और अनेक बार भिन्न-भिन्न अवसरों पर खेला भी गया। अन्य लोगों को पसन्द होने के साथ ही यह स्वयं भारतेन्दु को भी बहुत प्रिय था। इसके नायक को वे अपना आदर्श बतलाते थे और इसकी कथा को भारतीय पूर्वजों के उन चरित्रों में से समझते थे जिन पर प्रत्येक भारतवासी को गर्व करना चाहिए। राजा हरिश्चन्द्र का आख्यान बहुत लोकप्रिय विषय रहा है। इसी कारण, पौराणिक काल से लेकर आजतक न जाने कितने ग्रन्थ इसके आधार पर लिखे जा चुके हैं। संस्कृत के अतिरिक्त हिन्दी, बँगला, मराठी, गुजराती जैसी भाषाओं के आधुनिक कवियों तक ने इस अनूठे उपाख्यानों की रचना की है। ऐसी दशा में इस विषय पर किसी मौलिक नाटक का लिखना कठिन है। साहित्यिक मौलिकता के लिए कल्पना की स्वतंत्रता परमावश्यक होती है और सामग्री के अधिक रहते हुए उसे बनाये रखना साधारण काम नहीं है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक को बाबू हरिश्चन्द्र की मौलिक रचनाओं में केवल इस दृष्टि से भी गिनना उचित नहीं कहा जा सकता। परन्तु इसकी मौलिकता में उस समय और भी सन्देह होने लगता है, जब हम इसकी तुलना संस्कृत में लिखे गए 'चंड कौशिक' नाटक से

करते हैं। दोनों की पारस्परिक तुलना से ऐसा जान पड़ता है कि 'सत्य हरिश्चन्द्र' में 'चंड कौशिक' के कुछ अंश ज्यों के त्यों उद्धृत हैं, कुछ इधर-उधर कर दिये गए हैं, कई स्थलों पर उसके भाव दूसरे प्रकार से रख दिये गए हैं और बहुत से स्थल अक्षरशः अनुवाद करके ही भर दिये गए हैं।

'चंड कौशिक' के रचयिता आर्य क्षेमेश्वर हैं, जो विक्रम की ११ वीं शताब्दी में वर्तमान कन्नौज के राजा महिपालदेव के आश्रित थे। उन्होंने इसे राजा हरिश्चन्द्र के आख्यान के ही आधार पर पाँच अंकों में लिखा है। इसका उपर्युक्त नामकरण उन्होंने कदाचित् इस अभिप्राय से किया है कि इसके कथानक का पूरा विस्तार महर्षि विश्वामित्र के प्रचंड कोप के आधार पर हुआ है। 'चंड कौशिक' नाटक के अस्तित्व के विषय में स्वयं भारतेन्दु ने भी अपने 'सत्य हरिश्चन्द्र' की भूमिका में संकेत किया है।[1] किंतु वहाँ पर उन्होंने यह नहीं लिखा है कि वे अपने को उसके रचयिता का आभारी भी होना स्वीकार करते हैं वा नहीं।

'चंड कौशिक' की कथा का सारांश इस प्रकार है—महाराज हरिश्चन्द्र के आचार्य ने कतिपय विघ्नों की शांति के लिए उन्हें नियम-पालन की अनुमति दी, जिसकारण उन्हें रात भर जगाना पड़ा। प्रातः-काल महारानी शैव्या उनकी आलस्यभरी आँखें देखकर उन पर कुपित हुईं, किन्तु तापस के शांति-जल लाने पर जागरण का रहस्य समझ उनसे क्षमा-याचना करने लगीं। उधर महाराज विघ्नों के भय से व्याकुल होकर मनोविनोद की इच्छा से सुअर का आखेट करने वन की ओर निकल पड़े। वन में महर्षि विश्वामित्र तीनों विद्याओं को वश में करने के लिए आश्रम में बैठकर यज्ञ कर रहे थे, जहाँ विघ्नराट् उसमें विघ्न डालना चाहता था। संयोगवश महाराज हरिश्चन्द्र उसका एक साधन बन गए

१. भारतेन्दु नाटकावली, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग; पृ० ३६७।

और स्त्री-रूपधारिणी विद्याओं का आर्त्तनाद सुनकर उन्हें बचाने दौड़े। अभी तक महर्षि विश्वामित्र को पहचान नहीं सके थे। इस कारण उनके क्रुद्ध होते ही क्षत्रियधर्म की दुहाई देकर नतमस्तक हो गए। इस पर महर्षि विश्वामित्र ने उनसे दान माँगा और महाराज ने उन्हें अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया। उसकी दक्षिणा में एक स्वर्ण मुद्रा देने के उपलक्ष में अपने को काशी जाकर बेंचना निश्चित किया। काशी में उन्होंने रोहिताश्व के साथ शैव्या को आधे मूल्य में बेंचा और शेष आधे के लिए अपने को भी एक श्वपच के हाथ बेंच डाला। परन्तु जब ये अपना कर्तव्य-पालन करते समय श्मशान घाट पर टहल रहे थे, उसी सर्प के काटने से मृत रोहिताश्व का शव लेकर शैव्या वहाँ पर पहुँच गई। उसकी दशा देखकर उसे पहचाने बिना भी हरिश्चन्द्र व्याकुल हो उठे। किन्तु पहचानकर भी फिर उन्होंने उससे आधा कफ़न माँगा। उनकी इन सत्यनिष्टा से धर्मदेव अत्यन्त प्रसन्न हुए और सारे कष्टों का कारण सत्य की परीक्षा को बतलाते हुए उन्होंने रोहिताश्व को फिर से जिला दिया तथा उसे राज्य भी दे दिया जिस पर देवों ने मंगल-गान किया।

'सत्य हरिश्चंद्र' की कथा इस प्रकार है—इन्द्र की सभा में अयोध्या से लौटते समय देवर्षि नारद पहुँचे और उनसे महाराजा हरिश्चन्द्र के अकृत्रिम स्वभाव तथा सत्यप्रियता की प्रशंसा की। इस पर इन्द्र के हृदय में द्वेष एवं भय का संचार हो आया। उन्होंने देवर्षि नारद से बातचीत कर हरिश्चन्द्र के सत्य की परीक्षा करनी चाही। उसके कुछ ही अनन्तर वहाँ पर महर्षि विश्वामित्र के आ जाने पर उनसे हरिश्चन्द्र को सत्य से डिगाने की प्रतिज्ञा करा ली। उधर महाराज हरिश्चन्द्र एवं शैव्या ने बड़े-बड़े दुःस्वप्न देखे। महाराज ने देखा कि मैंने तीनों विद्याओं को साधने के लिए उन्हें खींच लाने वाले किसी क्रोधी ब्राह्मण को स्त्रियों की रक्षा के लिए की जाने वाली अपनी चेष्टाओं द्वारा रुष्ट कर दिया है और उसे सन्तुष्ट करने के लिए मुझे अपना सारा राज्य दे देना पड़ा है।

रानी ने इसी प्रकार स्वप्न में देखा कि राजा ने अपने सारे अंग में भस्म लगा लिया है। मैंने अपने बाल खोल रखे हैं और रोहताश्व को सर्प ने काट दिया है। इन स्वप्नों की शांति हो ही रही थी और महाराज इस चिन्ता में थे कि स्वप्न में जिस ब्राह्मण को दान दिया है वह मिल जाय तो उसे अपना सब कुछ सौंप दूँ, तबतक महर्षि विश्वामित्र वहाँ पर आ पहुँचे और अपने को ही स्वप्नवाला ब्राह्मण बतलाकर उनसे महादान की दक्षिणा माँगने लगे। महाराज को इसके निमित्त तीनों लोक से न्यारी काशी में जाकर, दक्षिणा के आधे अंश के लिए, अपनी स्त्री को एक ब्राह्मण के हाथ बेंचना पड़ा और शेष आधे के लिए उन्होंने स्वयं अपने को भी एक श्वपच के हाथ बेंच डाला। इस प्रकार श्वपच का क्रीतदास होकर जब वे श्मशान-घाट पर टहल रहे थे कि सर्प के काटने से मृत रोहिताश्व का मृत शरीर लेकर शैव्या उसे जलाने आई। उसे देखकर महाराज हरिश्चन्द्र बिना पहिचाने ही व्याकुल हो उठे। अन्त में, उसे पहचानकर भी उन्हें अपने कर्तव्यानुसार आधा कफ़न माँगना पड़ा। यह सत्यनिष्ठा देखकर फिर वहाँ स्वयं भगवान आ पहुँचे। रोहिताश्व जी उठा और देवों ने आकर महाराज की प्रशंसा की।

उपर्युक्त बातों के देखने से जान पड़ता है कि दोनों नाटकों के कथानक प्रायः समान हैं; केवल आरम्भ और अन्त में कुछ अन्तर है। 'सत्य हरिश्चन्द' की नयी बातों में इन्द्रसभा, उसमें की गई बातचीत, तथा राजा एवं रानी की स्वप्न सम्बंधी बातें मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त सिद्धियों का लालच दिखलाना, महाराज हरिश्चन्द्र को सावधान करना, उनका फाँसी लगाने को उद्यत होना, शिव आदि देवताओं का आना और दो एक अन्य वर्णन भी गिनाये जा सकते हैं। इसी प्रकार 'चंड-कौशिक' की नयी बातों में विदूषक तथा राजा एवं रानी की बातचीत; विघ्नराट् का बाराह-रूप धारण करना महर्षि विश्वामित्र की तपश्चर्या, दो चांडालों का राजा हरिश्चन्द्र को श्मशान-घाट तक ले जाना, मृतवत्सा

की सूचना तथा रोहिताश्व का अभिषेक आदि कहे जा सकते हैं। आवश्यकतानुसार दोनों नाटकों में कतिपय नये-नये पात्रों का समावेश भी करना पड़ा है और कहीं-कहीं 'सत्य हरिश्चन्द्र' में 'चंड कौशिक' के कुछ पात्रों के केवल नाममात्र ही बदलने पड़े हैं। उदाहरण के लिए चारुमतिका के स्थान पर सहेली भृंगी की जगह पर भैरव, तापस के लिए ब्राह्मण तथा धर्म के स्थान पर भगवान का समावेश कर दिया गया है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' की नवीनता केवल इसी प्रकार की बातों में दिखलायी जा सकती है जिनसे कथानक के विकास की समानता या एकता में, वस्तुतः कोई बाधा नहीं पड़ती। आर्य क्षेमेश्वर तथा भारतेन्दु दोनों ने विश्वामित्र एवं महाराज की बातचीत के आरम्भ होने से लेकर प्रायः अन्त तक कथानक का रूप लगभग एक ही सा रखा है जिस कारण 'सत्य हरिश्चन्द्र' के द्वितीय अंक का अन्तिम अंश, पूरा तृतीय अंक और थोड़े से अन्तिम अंश को छोड़कर उसका पूरा चौथा अंक भी क्रमशः 'चंड-कौशिक' के द्वितीय अंक के अन्तिम भाग, पूरे तृतीय अंक, पूरे चौथे अंक तथा थोड़े से अन्तिम अंश को छोड़कर पूरे पाँचवें अंक के समान लगते हैं; केवल कुछ ही स्थलों पर छोटे-मोटे परिवर्तन दीख पड़ेंगे। आरम्भ की असमानताओं के विषय में भी कह सकते हैं कि भारतेन्दु ने 'चंड-कौशिक' के विघ्नराट् की छाया पर ही अपने यहाँ प्रसिद्ध पौराणिक द्वेषी इन्द्र की रचना की है तथा उसमें प्रदर्शित त्रियाओं वाली घटना को ही राजा हरिचन्द्र की सत्यप्रियता को अधिक महत्व प्रदान करने की इच्छा से स्वप्न के रूप में अवतरित कर दिया है।

दोनों कवियों के चरित्र-चित्रण में भी विशेष अन्तर नहीं दीख पड़ता। दोनों नाटकों के नायक हरिश्चन्द्र में कर्तव्य-ज्ञान, धर्म-रक्षा, आत्म-सम्मान, उदारता, सत्य-निष्ठा तथा ब्राह्मण-भय के लक्षण लगभग एक समान दिखलायी देते हैं। 'चंड कौशिक' के हरिश्चन्द्र में केवल कुछ अधिक पत्नी-प्रेम तथा क्षत्रियत्व की विशेषताएँ आ जाती हैं और वह

मूर्छित भी हो जाया करता है। इसी प्रकार 'सत्य हरिश्चन्द्र' का हरिश्चन्द्र कुछ अधिक वंशाभिमान रखता है तथा भाग्य पर अधिक भरोसा रखने वाला जान पड़ता है। दोनों नाटकों का विश्वामित्र क्रूर, आत्म-प्रशंसक एवं परमक्रोधी हैं। किन्तु 'चंड कौशिक' का यह पात्र जहाँ कुछ अधिक शक्तिशाली है, वहाँ 'सत्य हरिश्चन्द्र' कुछ अधिक बनावटी-सा प्रतीत होता है। शैव्या दोनों ही नाटकों में एक सीधी-सादी और पति-भक्ता हिन्दू महिला है। फिरभी 'सत्य हरिश्चन्द्र' में वह वंश-मर्यादा को रखती हुई भी 'चंड कौशिक' की नायिका के समान कुलवती नहीं जान पड़ती। दोनों नाटकों के अन्तर्गत ये ही तीन पात्र मुख्य कहे जा सकते हैं और उपर्युक्त साधारण विभिन्नताओं के रहते हुए भी एक समान हैं। पौराणिक पात्रों के चरित्र-चित्रण में अधिक अन्तर लाने की गुंजायश भी बहुत कम होती है।

'सत्य हरिश्चन्द्र' में 'चंड कौशिक' के जिन अंशों का ज्यों का त्यों उद्धृत कर लिया गया है उनमें से कुछ श्लोक हैं जो इसके काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित सन् १६१७ ई० वाले संस्करण के १६, २०, ३६, ४४ तथा ६६ संख्यक पृष्ठों पर दिये गए हैं। कवि ने इनका हिन्दी अनुवाद तक कर दिया है। जो अंश इधर के उधर किये गए हैं उनके उदाहरण उल्लिखित कथाभाग में मिलते हैं, जैसे विद्याओं की घटना को स्वप्न रूप देना, विघ्नराट् की चेष्टाओं को इन्द्र के कार्यों द्वारा सिद्ध कर दिखाना आदि। 'सत्य हरिश्चन्द्र' के तीसरे अंक के अंकावतार में पहले पहल (इधर-उधर दौड़ता और हाँफता हुआ) पाप आता है जो 'चंड कौशिक' के तीसरे अंक में आने वाले बीभत्स वेशधारी पाप-पुरुष के ही भावों को दूसरे शब्दों में व्यक्त करता है और "मरे रे मरे!" से लेकर "यहाँ आया कि गति भई" तक कह डालता है।[1] इसमें कुछ पिछली कथाओं के अंश एवं काशी नागरी के वर्णन के अतिरिक्त और

---

१. भारतेन्दु नाटकावली, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग; पृ० ४३२-३३।

कुछ भी नहीं है। इस नाटक का प्रसिद्ध दोहा —

वेंचि देहि दारा सुग्रन, होइ दासहू मंद।
रखिहैं निज बच सत्य करि, अभिमानी हरिचंद ॥[१]

इस श्लोक की व्याख्या है। यद्यपि दोहा अधिक भाव पूर्ण है —

आत्मानमेव विक्रीय, सत्यं रक्षामि शाश्वतम्।
यस्मिन्नरक्षिते नूनं लोकद्वयमरक्षितम् ॥ (पृ० ६४)[२]

इसी प्रकार —

हरिश्चन्द्र — (पैरों पर गिरकर) "भगवन्! क्षमा कीजिए। यदि आज सूर्यास्त के पहले मैं न दूँ तो जो चाहे कीजियेगा। मैं अभी अपने को बेंच कर मुद्रा ले आता हूँ।"[३]

नीचे दिये गए श्लोक के स्थान पर लिखा गया है —

राजा — (ससंभ्रमं पादयोर्निपत्य) "भगवन्! प्रसीद, प्रसीद, मर्षय मर्षय।

अस्तं रवावसम्प्राप्ते, यदि नाप्नोति दक्षिणाम्।
शापार्हो वा बधार्हो वा, स्वाधीनोऽयं जनस्तव ॥" (पृ० ६८)

फिर —

हरिश्चन्द्र — "न जाने क्यों इसके रोने पर मेरा कलेजा फटा जाता है।"[४]

इस पंक्ति के भाव को प्रकट करता है —

राजा — "(सविशेष करुणाम्) अहो! मर्मस्पृंशि परिदेवितानि।"

---

१. वही, पृ० ४३१।

२. 'चंड कौशिक' नाटक की पृष्ठ-संख्या जीवानन्द विद्यासागर द्वारा सम्पादित तथा सन् १८८४ ई० में कलकत्ते से प्रकाशित प्रति के अनुसार है। — लेखक।

३. भारतेन्दु नाटकावली, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग; पृ० ४४०।

४. वही, पृ० ४७८।

तथा —

हरिश्चंद्र—"...... भला मुझ दास को अपने शरीर पर क्या अधिकार था कि मैंने प्राण-त्याग करना चाहा !"

इस निम्नलिखित श्लोक के आधार पर कहा गया प्रतीत होता है—

"मरणात् निर्वृतिं मात्रे धान्या स्वाधीनवृत्तयः ।
आत्मविक्रयिणः पापाः, प्राणत्यागेऽप्यनीश्वराः ।। (पृ० १२६) ।

और —

"खलगनमन सों सज्जन दुखी मत होईं, हरिपद रति रहै ।
उपधर्म छूटै, सत्व निज भारत गहै, कर दुख बहै ।।
बुध तजहिं मत्सर, नारि-नर समहोहिं, सब जग सुख लहै ।
तजि ग्राम कविता सुकविजन की अमृत बानी सब कहै ।।"

इस श्लोक को देखकर लिखा गया है—

"प्रमुदितसुजना समृद्धशस्या, भवतु मही विजयी च भूमिपालः ।
कविभिरुपहिता निजप्रबन्धे, गुणकणिकाप्यनुगृह्यतां गुणज्ञैः ।" (पृ० १३७)

अब इसके आगे हम यहाँ पर कुछ ऐसी पंक्तियों को भी 'चंड कौशिक' से उद्धृत कर देना चाहते हैं जिनमें भारतेन्दु द्वारा किये अक्षरशः अनुवाद के उदाहरण मिल सकते हैं, जैसे—

चंड कौशिक

सू०—"यस्याद्भुतं कथयतश्चरितं भवस्य,
रोमाञ्चभिन्नकणभस्म घनाङ्ग यष्टेः ।
व्यावल्गितभ्रुनयनत्रयमाविरासीत्,
वेल्लच्छशाङ्कशकलश्चपलश्चमौलिः ।।" (पृ० ६०) ।

---

१. वही, पृ० ४८१ । २. वही, पृ० ४६० ।

सत्य हरिश्चन्द्र

भै०—"·······आज जब भूतनाथ राजा हरिश्चन्द्र का वृत्तान्त भवानी से कहने लगे तो उनके तीनों नेत्र अश्रु से पूर्ण हो गए और रोमांच होने से सारे शरीर के भस्म-कण अलग-अलग हो गए।[1]

× × ×

चंड कौशिक

रा०—(आत्मानं संस्तभ्य प्रकाशम्) प्रिये !

आराध्योऽयं ब्राह्मणस्ते सशिष्यः,
पत्नी चास्य प्रीतितश्चोपचार्या।
रक्ष्याः प्राणाः बालकः पालनीयः,
यद्यद्वंशास्ति तत्तद्विधेयम्॥ (पृ० ७८)।

× × ×

सत्य हरिश्चन्द्र

हरिश्चन्द्र—(धैर्य से) देवी, उपाध्याय की आराधना भलीभाँति करना और इनके सब शिष्यों से भी सुहृद् भाव रखना, ब्राह्मण की स्त्री की प्रीतिपूर्वक सेवा करना, बालक का यथासम्भव पालन करना और अपने धर्म और प्राण की रक्षा करना।[2]

× × ×

चंड कौशिक

कौ०—धिङ् मूर्ख ! स्वयं दासास्तपस्विनः, तत् किं त्वया दासेन क्रियते।
रा०—सानुनयम्। भगवन् ! यदादिशसि तत् करिष्ये।
कौ०—श्रृण्वन्तु श्रृण्वन्तु विश्वेदेवाः। यदादिशामि तत् करिष्यसि ?

---

१. भारतेन्दु नाटकावली, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग; पृ० ४३४।
२. वही, पृ० ४४७।

रा०—बाढम्, करोमि ।

कौ०—यद्येवमस्मिन्ने वार्थिनि विक्रीयात्मानं प्रयच्छ मे दक्षिणा-सुवर्णानि ।" (पृ०८५-६) ।

× × ×

सत्य हरिश्चन्द्र

"विश्वामित्र—छिः मूर्ख ! भला हम दास लेकर क्या करेंगे ?
"स्वयं दासास्तपस्विनः" ।

हरि०—(हाथ जोड़कर) जो आज्ञा कीजियेगा हम सब करेंगे ।

वि०—सब करेगा न ? (ऊपर हाथ उठाकर) धर्म के साक्षी देवता लोग सुनें, यह कहता है कि जो आप कहेंगे मैं सब करूँगा ।

हरि०—हाँ-हाँ, जो आप आज्ञा कीजियेगा सब करूँगा ।

वि०—तो इसी गाहक के हाथ अपने को बेंचकर अभी हमारी शेष दक्षिणा चुका दे ।"[1]

× × ×

चंड कौशिक

रा०—भैक्ष्याशी दूरतस्तिष्ठन्,
रथ्याम्बरपरिच्छदः ।
यद्यदादिशति स्वामी,
तत्करोम्यवि चारितम् ।।" (पृ० ८६) ।

× × ×

सत्य हरिश्चन्द्र

हरि०—

"भीख असन कंबल बसन, रखिहै दूर निवास ।
जो प्रभु आज्ञा होइहै, करिहै सब ह्वै दास ।।[2]

---

१. भारतेन्दु नाटकाली, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग; पृ० ४५२ ।
२. वही, पृ० ४५२ ।

चंड कौशिक

"रा०—(दृष्ट्वा साश्चर्यमात्मगतम्)
कथमिमास्ता भगवत्यो विद्याः
यान् भगवतो विश्वामित्रस्यापि
तीव्रैस्तपोभिरवसन्नम्। (प्रकाशम्)
(अंजलि बद्ध्वा) नमस्त्रिलोकविजयिनीभ्यो विद्याभ्यः।
विद्याः—राजन् त्वादायत्ता वयं। अतस्त्वं शाधिनः।
रा०—यदि मामनुग्राह्यं भवत्योऽनुमन्यते,ततो भगवन्तं कौशिकं
उपतिष्ठध्वं ततोऽनुपराद्धं मुनेरात्मानं समर्थयामि।
विद्याः—(सविस्मयं परस्पर मवलोक्य)राजन् एवमस्तु। (इति निष्क्रान्ताः)।
(पृ० ११०-११)

× × ×

सत्य हरिश्चन्द्र

"हरि०—(आपही आप) अरे यही सृष्टि की उत्पत्ति पालन और नाश करने वाली महाविद्या हैं जिन्हें विश्वामित्र भी न सिद्ध कर सके। (प्रकट हाथ जोड़कर) त्रिलोक विजयिनी महाविद्याओं को नमस्कार है।

महाविद्या—महाराज, हम लोग तो आपके वश में हैं। हमारा ग्रहण कीजिए।

हरि०—देवियो, यदि हम पर प्रसन्न हो तो विश्वामित्र मुनि की वशवर्तिनी हो। उन्होंने आप लोगों के वास्ते बड़ा परिश्रम किया है।

महाविद्या—धन्य महाराज! धन्य! जो आज्ञा। (जाती हैं)[1]

× × ×

१. वही, पृ० ४६६।

चंड कौशिक

"कापा०—(साश्चर्यमात्मगम्)

अहो धैर्यम्। अहोज्ञानम्।

अहो महानुभावता च।

अथवा:—

चलन्ति गिरयः कामं,

युगान्तपवनाहताः।

कृच्छ्रेऽपिन चलत्येव,

धीराणां निश्चलं मनः॥

तन्ममापि किमतिनिर्बंधेन

(प्रकाशं वेतालं प्रति) भद्र,

गम्यताम्, क्रियतामस्य राज्ञः समीहितम्।

वैतालः—(सप्रणामम्) जं—

साधओ आणवेदि। (इति निष्क्रान्तः)

कापा०—भो राजन् प्रभातप्राया वर्तते विभावरी।

तत् साधयिष्यामस्तावत्।

राजा—भो साधक! स्मर्त्तव्या वयं दुःखितकथासु।

कापा०—राजन्! देवतास्त्वां स्मरिष्यन्ति। (इति निष्क्रान्तः)"

(पृ० ११२१-२३)

× × ×

सत्य हरिश्चन्द्र

धर्म—(आश्चर्य से आप ही आप) "धन्य हरिश्चन्द्र! धन्य तुम्हारा धैर्य! धन्य तुम्हारा विवेक और धन्य तुम्हारी महानुभावता!

या—

चलै मेरु वरु प्रलय जल, पवन झकोरन पाय।

पै वीरन के मन कबहुँ, चलहिं नहीं ललचाय।

तो हमें भी इसमें कौन हठ है ?

(प्रत्यक्ष) बैताल ! जाओ, जो महाराज की आज्ञा है वह करो।

बैताल—जो रावल जी की आज्ञा। (जाता है)

धर्म—महाराज ! ब्राह्ममुहूर्त निकट आया, अब हमको भी आज्ञा हो।

हरिश्चन्द्र—जोगिराज ! हमको न भूलियेगा, कभी-कभी स्मरण कीजियेगा।

धर्म—महाराज ! बड़े-बड़े देवता आपका स्मरण करते हैं और करेंगे ; मैं क्या कहूँ। (जाता है)।[1]

× × ×

चंड कौशिक

राजा—"हा वत्स रोहिताश्व !

धात्री जनांकशतदुर्ललितः कथंन ,
भूमौ चिरं लुटसि वत्स विरूढनिद्रः।
त्वामद्य पार्थिवशतैरभिनन्दिताज्ञ ,
माज्ञापयन्ति वटवः श्रुतदुर्गरूढः ॥" (पृ० १७१६)

× × ×

सत्य हरिश्चन्द्र

हरि०—हा, वत्स रोहिताश्व !.........

जेहि सहसन परिचारिका ,
राखत हाथहिं हाथ।
सो तुम लोटत धूरि में ;
दास बालकन साथ।

---

१. भारतेन्दु नाटकावली, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग ; पृ० ४७०-७१।

जाकी आयसु जग नृपति ,
सुनतहि धारत सीस ।
तेहि द्विज नदु आज्ञा करत ,
अहह कठिन अति ईस ॥[1]

इन जैसे अवतरणों से भली-भाँति प्रकट हो जाता है कि 'सत्य हरिश्चन्द्र' के रचयिता ने 'चंड कौशिक' के अनेक स्थलों का अनुवाद किस प्रकार किया है तथा किस प्रकार उनमें कभी-कभी न्यूनाधिक हेरफेर तक किया है। ऐसे अन्य स्थल भी दिये जा सकते हैं। 'सत्य हरिश्चन्द्र' के द्वितीय अंक के बहुत से अंशों और उसके संपूर्ण तृतीय तथा चतुर्थ अंकों को पढ़ते ही समझ में आ जाता है कि इसकी रचना 'चंड कौशिक' नाटक को देखकर अवश्य हुई होगी। दोनों को एक साथ मिलाने पर तो कुछ भी सन्देह नहीं रह जाता। हिन्दी नाटक का अधिकांश संस्कृत नाटक को सामने रखकर लिखा गया है। फिर भी यह 'मुद्राराक्षस' के समान अनुवाद ग्रन्थ नहीं है, 'सत्य हरिश्चन्द्र' का कुछ अपना निजी महत्व है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र किसी ग्रन्थ का अनुवाद करने अथवा उसके आधार पर लिखने में बड़े सिद्धहस्त थे जिस कारण उनकी अमौलिक रचनाओं में भी एक प्रकार का चमत्कार आ जाता था। 'चंड कौशिक' के जिन स्थलों को उन्होंने छोड़ दिया है वे अधिक उपयोगी नहीं थे। विदूषक एवं महाराज तथा रानी और चारुमति की बातचीत, वनेचर द्वारा सुअर की प्रशंसा, राजा तथा सूत के द्वारा आश्रम का वर्णन, दो चांडालों का हरिश्चन्द्र का पथ-प्रदर्शक बनना, मृतवत्सा के आने की सूचना, हरिश्चन्द्र की बारबार आने वाली मूर्च्छा तथा अभिषेक के प्रबन्धादि कुछ ऐसी बातें हैं जो भारतेंदु के दृष्टिकोण से निरर्थक जान पड़ती है। प्रत्युत इन्द्र-सभा की कुछ बातों को समाविष्ट कर लेने तथा महाविद्या की कथा को

१. वही, पृ० ४७३।

स्वप्न में परिणत कर देने से 'सत्य हरिश्चन्द्र' अधिक रोचक और सुसंगत बन गया है। संस्कृत वाले नाटक में शिथिलता बहुत है, किन्तु हिन्दीवाले में दो एक लंबे-लंबे वर्णनों को छोड़कर यह दोष बहुत कम देखने को मिलेगा। पहले का अभिप्राय 'ब्राह्मण के क्रोध का प्रभाव' सिद्ध करना जान पड़ता है, जहाँ दूसरे का उद्देश्य 'सत्य की टेक' निभाना है। अतएव, प्रसिद्ध पौराणिक राजा हरिश्चन्द्र के आख्यान द्वारा उपदेश ग्रहण करने की दृष्टि से 'चंड कौशिक' से 'सत्य हरिश्चंद्र' कहीं अच्छा साधन है।



१३. आधुनिक प्रान्तीय साहित्यों की मौलिकता का प्रश्न

हिन्दी साहित्य का इतिहास पढ़ते समय हमारा ध्यान साधारणतः उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों के विकास में आ जाने वाले विशिष्ट मोड़ों की ओर भी चला जाता है और हम प्रायः उनके प्रमुख कारणों की खोज तक करने लग जाते हैं। इसके लिए हम तत्कालीन परिस्थितियों की छान-बीन करते हैं। उस समय के अग्रगण्य कवियों और लेखकों की जीवनगत विशेषताओं पर दृष्टिपात करते हैं तथा कभी-कभी पूर्ण समाधान पाने के उद्देश्य से हम अन्य साहित्यों की समकालीन गति-विधि से भी परिचित हो जाना चाहते हैं जिससे इस विषय पर समुचित प्रकाश डाला जा सके। इधर कुछ दिनों से तो हमारे यहाँ हिन्दी साहित्य तथा किसी न किसी अन्य प्रान्तीय साहित्य की कतिपय सामान्य प्रवृत्तियों के तुलनात्मक अध्ययन का भी यत्न आरम्भ हो गया है। इस प्रकार का अनुशीलन कार्य अत्यन्त रोचक हुआ करता है और इसके द्वारा उपर्युक्त प्रश्न के सुलझाने में भी सहायता ली जा सकती है। परन्तु हम देखते हैं कि ऐसा करने वाले लेखक प्रायः इस साहित्य के प्रति किसी अन्य साहित्य की 'देन' वा 'ऋण' निर्धारित करने अथवा इसके किसी से 'प्रेरणा' ग्रहण करने वा उसका 'अनुकरण' करने को ही विशेष महत्व देने लग जाते हैं जो अप्रासंगिक तक हो जाता है।

वास्तव में किसी साहित्य के प्रति किसी अन्य की 'देन' वा 'ऋण' का निर्धारित करना अथवा उसकी 'मौलिकता' का पता लगाना भी उतना

महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता, जितना उसकी विशेषताओं का उसकी पृष्ठभूमि के आलोक में अनुशीलन करना कहला सकता है। प्रथम का उद्देश्य प्रायः एक साहित्य को किसी अन्य की अपेक्षा हीनतर सिद्ध करने अथवा उसे दूसरों के समक्ष श्रेष्टतर घोषित करने का भी हो सकता है जिससे अधिक से अधिक उसके लघुत्व वा गुरुत्व का बोध मात्र होकर ही रह जाता है। ऐसे अनुशीलन द्वारा हमें विशुद्ध साहित्यिक गुणों के वास्तविक रहस्य का ठीक पता नहीं चल पाता जो किसी तुलनात्मक अध्ययन का सच्चा लक्ष्य हो सकता है तथा जिसके आधार पर हम किसी शाश्वत सत्य के विषय में बहुत कुछ अवगत भी हो सकते हैं। इसके सिवाय, उस आदर्श तुलनात्मक अध्ययन के बल पर हमें अनेक उन बातों का भी अच्छा परिचय मिल जा सकता है जिससे किसी साहित्य की विशेषताओं को भली-भाँति समझ पाने में सहायता मिलती है। इस प्रकार प्रथम अध्ययन-शैली का उद्देश्य जहाँ सीमित अथवा संकीर्ण तक भी कहला सकता है, वहाँ दूसरे को सदा तात्विक अनुसंधान का महत्व भी दिया जा सकता है। तदनुसार हम उसे कहीं अधिक व्यापक एवं उदार तक ठहरा सकते हैं।

भारत देश, बहुत विस्तृत और विशाल होने पर भी, किसी ऐसी संस्कृति का परिचय देता है जो तत्वतः एक समान है और जिसका विकास भी क्रमशः बहुत प्राचीन काल से एक सुनिश्चित एवं सुव्यवस्थित ढंग से होता चला आया है। इसके विभिन्न प्रान्तों के जन-जीवन का निर्माण एक विशिष्ट प्रेरणा के आधार पर हुआ है, जिस कारण, उनके बीच अनेक व्यवधानों के होते हुए भी, उसमें हमें किसी प्रत्यक्ष असंगति का बोध नहीं होने पाता। तदनुसार हम बराबर यह भी देखते आये हैं कि प्रान्तीय भाषाओं में जहाँ कहीं साहित्य की रचना हुई है, वहाँ प्रायः सर्वदा किसी एक नियम विशेष का ही पालन होता आ रहा है। उदाहरण के लिए, यदि हम कम से कम केवल बंगला, असमी, उड़िया, मराठी, गुजराती

एवं हिन्दी के साहित्यों पर भी विचार करने लगें तो, पता चलेगा कि इनकी प्रारम्भिक रचनाओं में या तो अधिकतर 'महाभारत', 'रामायण' और 'श्रीमद्भागवत' जैसे ग्रंथों के अनुसार किये गए मिलते हैं अथवा प्रायशः वैसी पुस्तकों के ही आधार पर निर्मित स्वतंत्र धार्मिक रचनाएँ पायी जाती हैं। इसी प्रकार, यदि हम उनके साहित्यों के मध्यकालीन इतिहास पर दृष्टि डालते हैं तो वहाँ पर भी, हमें अधिकतर ऐसी रचनाएँ ही दीख पड़ती हैं जिनका प्रमुख विषय कृष्ण एवं रामादि की भक्ति द्वारा अनुप्राणित है। इन दोनों युगों में हमें क्रमशः उक्त नियमों की ही प्रधानता दृष्टिगोचर होती है और कभी-कभी तो लगभग एक ही काल में एक से अधिक भाषाओं के साहित्यों में ठीक एक ही प्रकार की रचनाओं को देखकर हमें बहुधा आश्चर्य हुए बिना भी नहीं रहता। इस बात का समाधान हम, केवल इतना ही समझ कर नहीं कर पाते कि किसी एक साहित्य के रचयिताओं ने दूसरे वालों से ही प्रेरणा ग्रहण कर ली होगी। इसके लिए हमें कुछ और भी गहराई से विचार करना पड़ता है और तब हमें ऐसा लगता है कि यह वस्तुतः किसी सामान्य परिस्थिति के प्रस्तुत रहते अथवा किसी एक भावना विशेष की लहर द्वारा सभी के प्रायः एक ही साथ आन्दोलित हो उठने के कारण सम्भव हुआ होगा।

इसी प्रकार, उपर्युक्त भाषाओं के साहित्यों पर विचार करते समय, हमें यह भी दीख पड़ता है कि उन सभी के इतिहास का आधुनिक युग, ईसवी सन् की उन्नीसवीं शताब्दी में ही किसी न किसी समय आरम्भ होते हैं। इसके साथ ही, हमें यहाँ तक भी प्रतीत होने लगता है कि उनकी तत्कालीन प्रारम्भिक रूपरेखा तक भी एक दूसरे से अधिक भिन्न नहीं है। हमें तो उन दिनों वाले विभिन्न साहित्यों के रचयिताओं की जीवन-पद्धति तक में भी कभी-कभी अद्भुत साम्य की झलक दीखने लगती है। यदि गुजराती के नर्मदाशंकर (सन् १८३३—८६ ई०) तथा हिन्दी के भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (सन् १८५०—८५ ई०) की जीवनियों पर हम एक सरसरी

दृष्टि भी डालें तो पता चलता है कि वे, एक दूसरे से सैकड़ों मील की दूरी पर जीवन व्यतीत करते हुए भी, आपस में बहुत भिन्न नहीं थे। नर्मदा-शंकर जहाँ एक शिक्षित नागर कुल में उत्पन्न हुए थे, वहाँ भारतेन्दु भी एक हिन्दी कवि के ही पुत्र थे और कुलीन अग्रवाल वंश के थे। एक ने जहाँ कुछ दिनों तक एलफिन्स्टन कालेज बम्बई में शिक्षा पायी थी तो दूसरे ने बनारस के क्वीन्स कालेज में कुछ दिनों तक पढ़ा था। दोनों ने प्रायः एक ही प्रकार अन्य भाषाओं के साहित्यों का भी न्यूनाधिक अध्ययन किया था। दोनों के ही हृदय में प्रेम तथा अदम्य उत्साह की लहर उमड़ती रहा करती थी और दोनों के मस्तिष्क नवजागरण की प्रेरणाओं द्वारा पूर्णतः अभिभूत रहे। दोनों ने ही अपने जीवन में बहुत अंशों तक रूढ़िवादिता की अवहेलना की, असीम उदारता की प्रवृत्ति का परिचय दिया। इस दूसरे प्रकार वाले स्वभाव के कारण आर्थिक संकटों तक का अनुभव किसी प्रकार की हिचकिचाहट के बिना किया। दोनों ही धार्मिक एवं सामाजिक सुधारों के पक्षपाती रहे और नर्मदा-शंकर तो ब्राह्म समाज तक की ओर उन्मुख हो गए थे। दोनों ने अपने-अपने साहित्यों के विकास वाले विशिष्ट मोड़ के उपयुक्त पद्य एवं गद्य की रचनाओं द्वारा पथ-प्रदर्शक का काम किया, रंगमंच के लिए नाटकों की रचना की, इतिहास विषयक रचनाएँ निर्मित की और निबन्ध लिखे। दोनों ने देश की दशा का वर्णन किया, राष्ट्रीयता के गीत गाये तथा भारत के उज्वल भविष्य के लिए सदा शुभ-कामनाएँ भी प्रदर्शित कीं। इन दोनों साहित्यकारों में कुछ अन्तर भी दिखलाये जा सकते हैं और जहाँ तक विदेशी शिक्षा, प्रत्यक्ष धार्मिक और सामाजिक आचरण तथा विशिष्ट कृतियों के निर्माण का सम्बंध है नर्मदाशंकर भारतेन्दु से कहीं आगे तक बढ़े हुए भी कहे जा सकते हैं। किन्तु केवल इसी कारण, हमारे उपर्युक्त निष्कर्ष का मूलतः खंडन नहीं किया जा सकता और न हमें केवल उन्हीं के आधार पर उसमें विशेष परिवर्तन करने की आवश्यकता ही पड़ सकती है अथवा उस पर पुनर्विचार किया जा सकता है।

नर्मदाशंकर एवं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समकालीन होने में किसी प्रकार के भी सन्देह को स्थान नहीं है। किन्तु इस बात के लिए हमारे पास अभी तक कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं कि ये दोनों साहित्यकार कभी प्रत्यक्ष संपर्क में आये थे अथवा इनमें से किसी एक ने कभी दूसरे की कृतियों को देखा वा उनसे कोई प्रेरणा ग्रहण की थी। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ये दोनों ही न्यूनाधिक समय तक बंगला कवि माइकेल मधुसूदनदत्त (सन् १८२४-१८७३) तथा उड़िया कवि राधानाथ (सन् १८४८-१९०८ ई०) के भी सम-सामयिक रहे जिन दोनों की रचनाओं में भी हमें अनेक उपर्युक्त बातों का ही समावेश किया गया पाया जाता है। उन दो कवियों वा साहित्यकारों के जीवन तथा रचनाओं में हमें सम्भवतः इन दोनों से भी कहीं अधिक नवजागरण के चिह्न दीख पड़ते हैं। उनमें से एक अर्थात् माइकेल तो ईसाई धर्म तक को अपना लेते है, अंग्रेजी तक में रचना करने की ओर प्रवृत्त होते हैं, विदेश-यात्रा करते हैं, अमित्राक्षर काव्यों तथा चतुर्दशपदियों के निर्माण में अपनी निपुणता प्रदर्शित करते हैं और विभिन्न क्रान्तिकारी विचारों को प्रश्रय देते हैं। दूसरे कवि राधानाथ भी उनसे कई बातों में बहुत पीछे रहते नहीं जान पड़ते तथा अधिकतर अपनी मौलिकता का ही परिचय देते हैं। उर्दू कवि अल्ताफ़ हुसेन हाली (सन् १८३६-१९१४ ई०) तथा मराठी के केशवसुत (मृ० सन् १९०५ ई०) भी बहुत कुछ नवीन प्रवृत्तियों द्वारा ही प्रभावित पाये जाते हैं। इन दोनों की रचनाओं में भी हम अनेक ऐसी बातें ही पाते हैं जिनसे आधुनिकता का परिचय मिलता है। ये सभी कुछ न कुछ दिनों तक एक दूसरे के समकालीन कहे जा सकते हैं और इन सभी को नवीनता एवं मौलिकता द्वारा अनुप्राणित भी कह सकते हैं। परन्तु इनके एक दूसरे से प्रत्यक्षतः प्रभावित होकर अपनी रचना प्रस्तुत करने का कोई प्रमाण हमें उपलब्ध नहीं होता। अतएव हमें विवश होकर उन कारणों का पता लगाने के लिए अन्यत्र दृष्टि डालनी पड़ती है जिनके द्वारा ये सभी मूलतः प्रभावित

रहे होंगे। इस प्रकार यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है कि उक्त एक समान प्रवृत्तियों का मूलस्रोत सामान्य परिस्थिति एवं वातावरण का ही होना सम्भव है।

तदनुसार हम देखते हैं कि जिस उन्नीसवीं शताब्दी की ऊपर चर्चा की गई है उसके कुछ पहले से ही इसके लिए उपयुक्त क्षेत्र निर्मित होता आ रहा था। उसके फल स्वरूप यह सम्भव नहीं था कि उपर्युक्त साहित्यकार उससे उस समय प्रभावित न हो सकें। गुजराती कवि नर्मदाशंकर के जन्मस्थान सूरत में अंग्रेजों का व्यापार केन्द्र पहले से ही स्थापित हो चुका था। उधर बम्बई से लेकर उत्तर एवं दक्षिण के कुछ बन्दरगाहों पर विदेशी योरुपीय जाति के लोगों का आना-जाना तथा व्यापार करना लगा ही रहा करता था। इधर पलासी युद्ध (सन् १७५७ ई०) के अनन्तर जब कलकत्ता के व्यापारी अंग्रेजों ने बंगाल पर अपना प्रभुत्व जमाना आरम्भ किया तथा जब उनकी धाक, उधर बम्बई के अतिरिक्त मद्रास जैसे केन्द्रों पर भी दीख पड़ने लगी तो उन्होंने अपने प्रभाव-विस्तार की ओर भी ध्यान देना आरम्भ किया तथा उत्तरोत्तर स्थायित्व ग्रहण करती जाने वाली प्रबन्ध-नीति को प्रश्रय दिया। उन्होंने प्रमुख स्थानों पर शिक्षण केन्द्र स्थापित कर उनके द्वारा अपने लिए उपयुक्त भारतीय कर्मचारियों का तैयार किया जाना, ईसाई धर्म का प्रचार करने वाले मिशनरियों को प्रोत्साहित कर उनके द्वारा सर्वसाधारण की धार्मिक एवं सामाजिक धारणाओं को अपने अनुकूल करवाना तथा इस प्रकार भारतीयों के हृदय में अपनी पूर्व प्रचलित परंपराओं के प्रति क्रमशः उपेक्षा का भाव जाग्रत कराना जैसे कार्यों को अपने लिए कर्तव्य सा मान लिया और वे इसकी ओर पूर्ण रूप में यत्नशील बन गए। फलतः योरुपीय और विशेषकर अंग्रेजी साहित्य का प्रचार बढ़ा, अनेक सर्वथा नवीन बातों के साथ भारतीयों का परिचय आरम्भ हो गया। इसके कारण, क्रमशः परिवर्तित होती जाने वाली उनकी मनोवृत्ति नयी

विचार-धाराओं के अपनाने और तदनुसार आचरण करने की ओर भी उन्मुख हो चली। इसके लिए यह स्वाभाविक था कि सर्व प्रथम वे लोग ही प्रभावित हों जो वैसे वातावरण के संपर्क में सबसे पहले आयें और उसके अनन्तर ऐसे लोग भी उसके रंग में रँगते चले जायँ जिन्हें उनके पीछे अवसर मिलता जाय। तदनुसार हम देखते हैं कि हिन्दी-भाषी क्षेत्र के लोग इस बात में उन बंगालियों से पिछड़े हुए-से लगते हैं जिन्होंने अंग्रेजों की अधीनता इनसे पहले स्वीकार करली थी। बंगला के साहित्यकार आधुनिकता की दृष्टि से न केवल हिन्दी के ही, अपितु गुजराती, मराठी, उड़िया, असमी और यहाँ तक कि तेलुगु, तमिल, कन्नड़ी एवं मलयालम जैसी प्रान्तीय भाषाओं वाले तक विभिन्न साहित्यकारों के पथ-प्रदर्शक बन कर सामने आ जाते जान पड़ते हैं। हमें कभी-कभी ऐसा कथन करना स्वाभाविक भी प्रतीत होता है कि इन लोगों ने उनका अवश्य अनुकरण किया होगा।

इसमें सन्देह नहीं कि भारत के विभिन्न साहित्यों का आपस में आदान-प्रदान भी बहुत पहले से ही चलता आ रहा होगा। तीर्थ-यात्रा, धार्मिक आन्दोलन, वाणिज्य-व्यापार तथा विजयोन्मुक व्यक्तियों के आक्रमणों के कारण अनेक लोगों का सुदूर प्रान्तों तक भ्रमण करना और वहाँ के लोगों के संपर्क में आकर उनके साथ आपस में कोई सम्बंध तक स्थापित कर लेना असम्भव नहीं था और न यह सम्भव ही था कि वे किसी प्रकार एक दूसरे को बिना प्रभावित किये रह जायँ। इसके सिवाय ऐसे लोगों में बहुत से वे लोग भी रहा करते होंगे जिन्हें साहित्यिक एवं सांस्कृतिक बातों के प्रति विशेष आकर्षण रहता होगा तथा जिनके यत्नों द्वारा ऐसी कृतियों का एक से दूसरे स्थानों तक जाना बहुत स्वाभाविक बन जाता रहा होगा और जो उनसे, कम से कम, अनुप्राणित भी हो जाते रहे होंगे। हिन्दी की कतिपय पुरानी रचनाओं द्वारा प्रेरणा ग्रहण कर उन्हीं की भाषा एवं शैली के अनुरूप अनेक पदों की रचना बहुत

से मराठी, गुजराती और बंगला के कवियों तक ने की है। ऐसी एकाध रचनाओं का अन्य भाषाओं के कवियों द्वारा प्रस्तुत किया गया होना भी असम्भव नहीं कहा जा सकता और स्वयं हिन्दी कवियों में से कुछ की अन्य भाषाओं वाली रचनाएँ मिल सकती हैं। इसके सिवाय हमें इस बात का भी पता है कि सम्भवतः ब्रज के क्षेत्र वाली रचनाओं द्वारा ही बहुत कुछ अनुप्राणित होकर, 'बृजबुलि' साहित्य का निर्माण किया गया था। हिन्दी के प्रारम्भिक सूफ़ी कवियों की प्रेमगाथाओं के आदर्श पर ही, उस भाषा के अनेक कवियों ने अपने पांचाली-साहित्य की भी रचना की थी। परन्तु केवल इतने मात्र प्रभावों के ही कारण हमारे लिए यह अनिवार्य नहीं कि हम बंगला के मध्यकालीन साहित्य को हिन्दी के समसामयिक साहित्य का प्रतिरूप ठहराने लग जायँ। संत कबीर की कतिपय रचनाओं का अनुवाद करने के कारण, हम रवीन्द्रनाथ को उनके अनुकरण में कविता करने वाला घोषित करने ही लग जायँ। ऐसे उदाहरण केवल ऊपरी अथवा आंशिक रूपों तक ही पड़े प्रभावों को प्रकट कर सकते हैं और इनके कारण अधिक से अधिक दो-चार अपवाद तक भी उपस्थित किये जा सकते हैं। किसी साहित्य विशेष की मौलिकता अथवा उसकी अंतःप्रेरणा के प्रश्नों के समाधान में इनसे कोई यह महत्व पूर्ण सहायता नहीं मिल सकती।

वास्तव में, यदि साहित्य विषयक मौलिकता एवं अनुकृति के प्रश्न पर विचार किया जाय तो, कहा जा सकता है कि, इसके सम्बंध में निर्णय करने के पूर्व हमें कतिपय बहुत आवश्यक बातों की ओर भी ध्यान देना चाहिए। हमें, सर्व प्रथम, यह जान लेना चाहिए कि हम इसे केवल किसी साहित्यकार विशेष के स्तर पर तो नहीं देख रहे हैं। यदि कोई कवि वा लेखक बहुत समर्थ और प्रभावशाली है तो उसका न्यूनाधिक प्रभाव न केवल उसके भाषाभाषी, प्रत्युत अन्य भाषा के पाठकों तथा साहित्य रच-यिताओं पर भी पड़ सकता है और वह कुछ काल तक पथ-प्रदर्शन भी

कर सकता है । इसी प्रकार यदि हम, किसी ऐसे व्यक्ति के स्तर से भिन्न, किसी साहित्य के अंग विशेष की अपूर्वता अथवा उसके प्रभाव विशेष के स्तर के अनुसार देखने लगें तो भी, कह सकते हैं कि वह अपने समकालीन साहित्य के लिए आदर्श उपस्थित कर देगा । हम इसी नियम के अनुसार, किसी भिन्न देश के साहित्य विशेष के विशिष्ट प्रभाव की भी चर्चा कर सकते हैं और इस बात का अनुमान लगा सकते हैं कि किस मात्रा तक वह अन्य देशीय कि साहित्यों का भी पथ-प्रदर्शन कर सकता है । इन विभिन्न स्तरों को हम क्रमशः व्यक्तिगत, अंशगत एवं देशगत के नाम दे सकते हैं और इनके उदाहरणों में, उसी प्रकार हम कवि रवीन्द्र, भक्ति-काव्य तथा अंग्रेजी साहित्य के नाम देकर अपने उक्त कथन का स्पष्टीकरण कर सकते हैं । इस प्रसंग में हम इतना और भी कह सकते हैं कि इनमें से किसी के भी कारण अन्य साहित्य विशेष में कोई आमूल परिवर्तन नहीं आ सकता । उसकी मौलिक विशेषता, उसका अपना सन्देश तथा उसका अपना स्वरूप तत्वतः एक समान ही रह जा सकते हैं और उस पर उक्त प्रकार पड़ने वाले प्रभावों के कारण, उसके क्रमिक विकास में केवल सहायता मात्र ही मिल सकती है । अतएव जहाँ तक उसके द्वारा किसी अन्य साहित्य के अनुकरण करने का प्रश्न है, इसे हम केवल किसी सीमित मात्रा तक ही यथार्थ ठहरा सकते हैं ।

हिन्दी साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों के विकास में क्रमशः आते जाने वाले विशिष्ट मोड़ों पर यदि हम उपर्युक्त दृष्टि से विचार करने लगते हैं तो हमें पता चलता है कि इसका मूल रूप सम्भवतः उस अपभ्रंश साहित्य का एक विकसित प्रतिरूप रहा जो इसके उदय कालीन क्षेत्र के अन्तर्गत अपनी निजी विशेषताओं के साथ प्रचलित था । इनमें केवल भाषागत परिवर्तनों को ही प्रेरणा विशेष रूप में मिली । इसके क्रमशः प्रौढ़तर बनते जाने के साथ इसकी पूर्व प्रचलित बातों के ह्रास एवं नवीन बातों के विकास को आगे अधिकाधिक प्रोत्साहन मिलता चला गया । इसे अपने

पृथक् स्वरूप का स्पष्ट बोध कदाचित् उस समय मे होने लगा, जब नाथपंथी योगियों ने अपनी छोटी-बड़ी रचनाओं को प्रस्तुत करना आरम्भ किया तथा फिर विद्यापति जैसे एकाध कवियों ने कृष्ण-लीला परक विषयों को महत्त्व दिया। अन्त में, भक्ति-आन्दोलन के प्रभाव में आकर इसने अपनी विकास-धारा के एक नये मध्यकालीन मोड़ पर पूर्ण सफलता के साथ काम किया। भक्ति-आन्दोलन ने भारत की अन्य प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यों पर भी लगभग उसी प्रकार प्रभाव डाला और उनमें नवीन जाग्रति ला दी। यद्यपि ऐसा सर्वत्र ठीक एक ही समय नहीं हुआ और इसके कालक्रम ने उस भाव-धारा की पहुँच के समयानुसार ही आगे पीछे का रूप भी ग्रहण किया।

हिन्दी साहित्य के आधुनिक कालीन इतिहास में भी हम फिर इसी बात की पुनरावृत्ति का उदाहरण उपस्थित होता देखते हैं। इस युग की नवीन परिस्थितियाँ सर्व प्रथम स्वभावतः बंगाल प्रान्त में उत्पन्न होकर वहाँ के बंगला-साहित्य को प्रभावित करती हैं। फिर उसी नियम के अनुसार क्रमशः अन्य अनेक ऐसे साहित्यों के सम्बंध में भी काम करती चली जाती हैं। उनका स्वरूप सर्वत्र लगभग एक-सा रहा करता है, जिस कारण उनका प्रभाव भी सब कहीं ठीक एक-सा ही पड़ता दीखता है और परिणाम एक समान निकलता है। किसी साहित्य विशेष के साहित्यकार के लिए किसी अन्य वाले का अनुसरण करना अनिवार्य नहीं हुआ करता। इस बात का स्पष्टीकरण फिर आगे चलकर और भी अधिक हो जाता है जब अंग्रेजी-शिक्षा, विदेश यात्रा और बाह्य संपर्क, एवं विशेष कर योरपीय साहित्यों के अध्ययन के फलस्वरूप इस देश के निवासियों में नवीन चिन्तन-पद्धति का अभ्यास बढ़ना आरम्भ हो जाता है। तदनुसार यहाँ के विभिन्न साहित्यकारों में अपनी अभिव्यक्ति के लिए नवीन मार्ग निकलते जान पड़ने लगते हैं। ये लोग न केवल वर्तमान को ही नवीन दृष्टि से देखते हैं, अपितु अपनी भूतकालीन

स्वीकृतियों पर भी बहुत कुछ नये ढंग से ही दृष्टिक्षेप करना चाहते हैं। इसका फल यह होता है कि इन्हें अपने भविष्य सम्बंधी कल्पनाओं को सर्वथा नवीन रूप देने की ओर भी प्रवृत्त होना पड़ जाता है। ज्यों-ज्यों वातावरण में विशिष्ट परिवर्तन होते चलते हैं उनकी प्रवृत्तियाँ अधिकाधिक उग्रतर बनती भी चली जाती हैं। तदनुसार उनकी रचनाओं में क्रमशः आती जाने वाली विशेषताओं के आधार पर हम इन्हें सूचित करने वाले के भी नाम लेने लग जाते हैं। हिन्दी साहित्य के आधुनिक युगीन इतिहास में हमने इन्हें अभी तक राष्ट्रीयता वाद, छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद जैसे नाम दिये हैं जो उसकी विशिष्ट प्रवृत्ति में क्रमशः आते जाने वाले विभिन्न छोटे-बड़े मोड़ों के ही परिचायक हैं। इनमें से प्रत्येक अपने पूर्ववर्ती की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप कुछ न कुछ नवीनता ग्रहण करता दीख पड़ता है और इसके लिए अभी आगे और भी सम्भावनाएँ हैं।

हिन्दी साहित्य के उक्त क्रमिक विकास में लक्षित होने वाली प्रवृत्ति के नवीनतम मोड़ सम्बंधी कविता को 'नयी कविता' का नाम दिया जाने लगा है और इसके समर्थन में कहा जाता है कि इसके लिए कदाचित् सर्वथा नवीन सम्भावनाओं की आशा की जा सकती है। इसमें सन्देह नहीं कि इसकी पृष्ठभूमि में काम करने वाली नवचेतना का अस्तित्व अन्य भाषाओं के साहित्यों में भी न्यूनाधिक पाया जा सकता है। इसके लिए हम बहुत कुछ दायित्व उस नयी जागृति को ही दे सकते हैं जो इस समय सारे विश्व में ही लक्षित हो रही है। फिर भी ऐसा मान लेना वास्तविक तथ्य से दूर नहीं कहा जा सकता कि इसका जन्म यहाँ पर केवल किसी प्रेरणा विशेष के ही कारण नहीं हुआ है, प्रत्युत इसके पीछे बहुत काल से चली आती हुई वह भाव-धारा भी काम करती आई है जो इस साहित्य के अपने निजी विकास को सूचित करती है। अतएव इसमें पायी जाने वाली नवीनताओं का ठीक उसी रूप में होना

जो वर्तमान अंग्रेजी अथवा अन्य विदेशी साहित्यों में तथा बंगला एवं मराठी जैसे अन्य प्रान्तीय साहित्यों अन्तर्गत भी उपलब्ध है, अनिवार्य नहीं है। यदि इसके कवि पूर्णतः समर्थ सिद्ध हो सकें तो इसमें कदाचित् हमें कभी उस आदर्श रूप के भी दर्शन हो सकते हैं जो भावी विश्व-जनीन काव्य का हो सकता है। उस दशा में हमें इसके द्वारा फिर नवीन सत्य एवं सौन्दर्य का बोध हो सकेगा और चिरनवीन आनन्द का अपूर्व आनन्द भी होगा। तभी, उसके कारण, इसके पहले जुड़े हुए 'नयी' शब्द की सच्ची सार्थकता भी सिद्ध की जा सकेगी। वास्तव में, साहित्य का नयापन भाव, शैली अथवा शिल्प में उतना नहीं है, जितना 'स्पीरिट' में। क्योंकि पुराने विचारों वाला व्यक्ति भी नयी वेष-भूषा में हो सकता है और नये विचारों वाला व्यक्ति भी पुरानी वेष-भूषा में दिखायी दे सकता है। वहाँ रुचि प्रधान है, विचार नहीं। इसी प्रकार, जीवन में जन्म की भाँति मृत्यु भी यथार्थ है। किन्तु मनुष्य का आदर्श मृत्यु कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि उसकी आस्था जीने में है, मरने में नहीं। पुनर्जन्म की धारणा कदाचित् सान्त्वना-सूचक अधिक है, वास्तविक अपेक्षाकृत कम।



१४. हिन्दी का प्रारम्भिक नाटक साहित्य

विद्यापति के समय अर्थात् पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही हिन्दी में नाटक लिखने की प्रथा का सूत्रपात हुआ था। तब से लगभग दो सौ वर्ष पर्यन्त इस विषय में कई कारणों से कुछ भी न हो पाया। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में नेवाज कवि ने पहले-पहल महाकवि कालिदास के संस्कृत शकुन्तला नाटक के आधार पर 'शकुन्तला-उपाख्यान' लिखा जो उन दिनों की दृष्टि से अब तक नाटक के नाम से पुकारा जाता है। इस पुस्तक में और आजकल के लिखे हिन्दी नाटकों में बड़ा अन्तर है। परन्तु विद्यापति के नाटकों से इसमें यह विशेषता है कि इसमें बिहारी नाटकों के समान मैथिली और संस्कृत की खिचड़ी देखने को नहीं मिलती। पूरी पुस्तक लगभग एक ही भाषा में है। एक बात स्मरण रखने योग्य है कि उर्दू साहित्य में भी नाटक का आरम्भ किसी हिन्दू द्वारा किये गए शकुन्तला के अनुवाद से ही फर्रुखसियर के समय में होता है। अठारहवीं शताब्दी के हिन्दी नाटककार, नाट्यकला की दृष्टि से, नेवाज से अधिक कुछ भी नहीं कर पाये। देव तथा ब्रजवासी दास आदि के नाटक इस विषय में शकुन्तला-उपाख्यान से अच्छे नहीं कहे जा सकते। इन उपर्युक्त नाटकों में न तो आधुनिक नाटकों के से ठीक-ठीक विभाग किये गए हैं और न स्थानानुसार पात्रों के आने-जाने अथवा और किसी प्रकार के नाट्य करने के संकेत ही दिये गए हैं। यह सभी वास्तव में कोरे काव्य के काव्य हैं। ऐसे ही नाटक उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक देखने को मिलते हैं। सन् १८५० के लगभग लिखे गए बिहारी कवि भानुनाथ झा

के 'प्रभावती हरण' नामक नाटक में कुछ विशेषता अवश्य है, किन्तु वह भी बहुत थोड़ी। महाराजा विश्वनाथ सिंह के 'आनन्द रघुनन्दन' नाटक की भी यही दशा है।

आधुनिक हिन्दी नाटक लिखने का आरम्भ भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के अनुसार उनके पिता बाबू गोपालचन्द्र द्वारा लिखे हुए 'नहुष' नाटक से होता है। यह पुस्तक सन् १८५७ के लगभग लिखी गई थी, किन्तु अब तक इसे पढ़ने का सौभाग्य बहुत कम लोगों को प्राप्त हुआ होगा। इन्हीं बाबू साहब ने सर्व प्रथम हिन्दी में नियमानुसार महाकाव्य की रचना की थी। परन्तु इनका 'जरासन्ध-वध' महाकाव्य भी 'नहुष' नाटक के ही समान अभी तक देखने को नहीं मिला। उर्दू साहित्य में अच्छे नाटकों का आरम्भ इससे २० वर्ष बाद अर्थात् १८७७ से होता है और तभी से उर्दू नाटककार लगातार थोड़ी-बहुत उन्नति करते चले आ रहे हैं। हिन्दी साहित्य के नाटक-विभाग के लिए ये दिन बहुत ही अच्छे थे। इसके कुछ ही दिनों के उपरान्त राजा लक्ष्मण सिंह, लाला श्री निवासी दास, पं० केशवराय भट्ट, बाबू तोताराम, आदि ने कई नाटक लिखे। किन्तु इनमें से अधिकतर इतने बड़े-बड़े बन गए कि उनको आजकल, बिना काँट-छाँट किये खेलना असम्भव-सा हो गया है। बदरीनारायण चौधरी का 'भारत-सौभाग्य' नाटक इसका सबसे बड़ा उदाहरण कहा जा सकता है। इस समय के नाटकों में सबसे अच्छे भारतेन्दु बाबूहरिश्चन्द्र के ही नाटक कहे जा सकते हैं। किन्तु इनके १८ वा १९ नाटकों में से सबके लिए ऐसा कहना भी भारी भूल है। इनके द्वारा अनुवादित नाटक विशेषकर अच्छे हैं। कभी-कभी तो उनमें मौलिक नाटक का भ्रम हो जाया करता है। इन सबके सब नाटकों में यह एक विशेषता है कि इन्हें किसी प्रकार रंगमंच पर खेल सकते हैं और भारतेन्दु-युग में रखे हुए नाटकों से इसी कारण, एक नये युग का आरम्भ होता है। इनके द्वारा अनुवादित तथा नये सिरे

से लिखित कुछ नाटकों में इतनी सफलता मिली कि बहुत से लोगों ने इन्हीं का अनुकरण करके नाटकों का लिखना आरम्भ कर दिया। संस्कृत, प्राकृत तथा अंग्रेजी नाटकों का अनुवाद होने लगा। कभी नये, कभी सामाजिक, पौराणिक अथवा अन्यान्य प्रकार के नाटक मंच पर खेलने के उद्देश्य से लिखे जाने लगे। सबसे पहले सन १८६८ में 'जानकी-मंगल' नामक हिन्दी नाटक काशी में खेला गया था। तब से यदि उचित परिश्रम हुआ होता और लोगों की रुचि इस ओर सफलता पूर्वक खिंची होती, तो आज तक हमारे नाटक सम्भव था, किसी भी दूसरी भाषा के नाटकों से कभी पिछड़ नहीं जाते। परन्तु ऐसा न हो सका और थोड़े ही दिनों के अनन्तर, फिर पुरानी प्रथा लौट आई। उधर मराठी, गुजराती तथा उर्दू और बंगला के नाटकों के खेलने के लिए नाटक-मण्डलियाँ बन कर तैयार हुईं और इधर हिन्दी के कितने ही लब्ध प्रतिष्ट कविवर अपना बहुमूल्य समय पुरानी डफली पीटने में ही नष्ट करते रहे। संस्कृत नाटकों के अनुवाद तो वैसे थे ही, नये-नये पौराणिक नाटक तक अभी इस ढंग से लिखे जाते हैं जिन्हें दृश्य काव्य कहना मूर्खता के सिवाय और कुछ नहीं, इन्हें श्रव्य अथवा पाठ्य काव्य कहना कदाचित् अधिक उपयुक्त होगा। अन्य भारतीय भाषाओं के नाटकों की तुलना के लिए हिन्दी में अभी कुछ ही दिन पहले तक आधे दर्जन से अधिक नाटक नहीं निकल सकते थे।

परन्तु अभी दो ही चार वर्षों से नये नाटक-युग का आरम्भ हिन्दी में भी हो रहा है। इधर कई नाटक-मण्डलियाँ भी स्थापित हो गयी हैं जिन्हें बहुत-कुछ अंश तक इस समय में सफल भी कह सकते हैं। अन्य कई लेखकों ने नाटक लिखने के ही उद्देश्य से अपना पुराना कार्यक्रम बदल कर इस ओर यत्न करना भी आरम्भ कर दिया है। लक्षण अच्छे हैं, क्योंकि बंगला तथा मराठी भाषाओं से अनुवाद किये गए नाटकों के सिवाय इन विगत दो-चार वर्षों में हिन्दी भाषा में भी कई

ऐसे नाटकों की रचना हुई है जो उन्नति के इस प्रथम युग के लिए बहुत उत्तम कहे जा सकते हैं। हिन्दी नाटककारों ने अब तक इतनी सफलता अवश्य प्राप्त कर ली है, जितनी खेलने के योग्य नाटक बनाने के लिए आवश्यक है। प्लाट अथवा कथानक भी बहुत कुछ सुधर गया है और भाषा भी उपयुक्त होने लगी है। परन्तु अभी उत्तम नाटक-रचना के कई आवश्यक गुण इनमें नहीं आ पाये हैं। सबसे भारी दोष जो दीख पड़ता है, वह पात्रों के चरित्र-चित्रण की असफलता है। हरिश्चन्द्र के 'नील देवी' तथा राधाकृष्णदास के 'राजस्थान केसरी' के पात्रों से लेकर 'एक भारतीय आत्मा' के 'कृष्णार्जुनयुद्ध' तथा बदरीनाथ भट्ट-कृत 'तुलसीदास' नामक नाटकों के पात्रों तक में यह दोष लगातार देखने को मिलेगा। हमारे हिन्दी नाटककार पौराणिक परिस्थिति से अपना पीछा नहीं छुड़ा पाते, न जाने जीता-जागता चित्र खींचने की ओर इनका ध्यान कब तक आकर्षित होगा। क्या ये बंगला कवि द्विजेन्द्रलाल राय के दुर्गादास, सीता तथा औरंगजेब का सा एक भी चित्र नहीं खींच सकते? यदि नहीं तो शीघ्रता में नाटकों की संख्या बढ़ाने के लिए यत्न करना बेकार है। पात्रों की रचना सरल काम नहीं है। इसी प्रकार घटनाओं का क्रम बाँधने तथा गीतों की संख्या बढ़ाने में भी बहुत-सी भूलें देखने में आती हैं। कई नाटक बात-चीत की शैली में लिखे हुए उपान्यासों के सिवाय गीतों तथा आने-जाने के कुछ संकेतों के और किसी बात में बढ़ कर नहीं कहे जा सकते। सम्भव है, ये तथा और भी ऐसे अनेक दोष धीरे-धीरे दूर हो जायेंगे।

अनुवादित नाटकों में इन उपर्युक्त बातों की ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं पड़ती, किन्तु इसी प्रकार की दूसरी कठिनाई का सामना करना पड़ता है जो सभी अनुवादित ग्रंथों के लिए आवश्यक है। किसी अन्य भाषा के कवि अथवा लेखक का भाव अपनी भाषा में ज्यों का त्यों व्यक्त करना बड़ा कठिन काम है। बड़े-बड़े नामी लेखक तक इसमें

बहुधा सफल नहीं हो पाते। महाकवि भवभूति का लिखा 'उत्तर राम-चरित' नाटक संस्कृत साहित्य में बहुत प्रसिद्ध है। इसके अनुवाद के लिए हिन्दी के कई लेखकों ने अपनी लेखनी उठायी। देवदत्त त्रिपाठी, लाला सीताराम बी० ए०, हरिमंगल मिश्र आदि लगभग आधे दर्जन लेखकों ने इसके अक्षरशः अनुवाद, भावानुवाद अथवा छायानुवाद किये, किन्तु पूरी सफलता किसी को नहीं मिली। किसी-किसी वाक्य अथवा श्लोक का अनुवाद देखकर तो हँसी और दया आने लगती है। हाँ, इस विषय में स्वर्गीय सत्यनारायण कविरत्न का यत्न सबसे अधिक सराहनीय कहा जा सकता है। इनकी 'उत्तर रामचरित' नाटक नामक पुस्तक 'भारती-भवन' फीरोजाबाद जि० आगरा से १९१३ में प्रकाशित हुई थी। अब इसका दूसरा संस्करण 'साहित्यरत्न भण्डार' चौक आगरा, से अभी गत वर्ष निकला है। अनुवादक ने पुस्तक के आरम्भ में २६ पृष्ठों की एक भूमिका भी दी है जिसमें कविवर भवभूति के "जन्म-स्थान, वंश-परिचय तथा समय-निरूपण के साथ-साथ उनके हृदय की परीक्षा" करने की भी चेष्टा की गई है। इसमें अनुवादक ने कवि के हृदय, मस्तिष्क तथा विचार-सम्बंधी दस गुणों का अपने तथा अन्य दो एक विद्वानों के मतों के आधार पर अच्छा विवेचन किया है। सभी बातें प्रायः युक्ति-संगत हैं। अन्त में भवभूति के अन्य ग्रंथों के विषय में भी थोड़ा-बहुत कहकर अनुवादक ने उनकी और कालिदास की कुछ बातों में तुलनात्मक आलोचना भी की है जो संक्षिप्त होने पर भी स्पष्ट है। भूमिका लेखक के अनुसार दोनों ही अपने-अपने ढंग के निराले हैं। स्वर्गीय कवि द्विजेन्द्रलाल राय को अपने 'कालिदास और भवभूति' ग्रंथ में लगभग दो सौ पृष्ठों के लिखने के उपरान्त भी "धन्य कालिदास! धन्य भवभूति!" ही कह कर समाप्ति करनी पड़ी थी। कविरत्नजी का 'उत्तररामचरित और शकुन्तला' शीर्षक लिखा विचार भी बुरा नहीं है। परन्तु हिन्दी नाटकों में इस पुस्तक का स्थान ढूँढने के लिए अनुवाद की ओर ही ध्यान देना अधिक ठीक है।

संस्कृत के 'उत्तर राम चरित' नाटक को भवभूति ने रामायण की उत्तरार्द्ध कथा अर्थात् रामचन्द्र जी के वन से लौटकर सिंहासन पर बैठने से लेकर उनके सीता-त्याग तथा अश्वमेध यज्ञ और सीता के साथ पुनर्मिलन पर्यन्त तक के आधार पर सात अंकों में निर्माण किया है। पूरा नाटक करुण, वीर तथा शृङ्गार रस से क्रमानुसार भरा हुआ है। काव्य का इसमें स्थान-स्थान पर ऐसा चमत्कार दिखलाया गया है जिसका जोड़ संसार के किसी साहित्य में मिलना कठिन है। सत्यनारायण जी ने इसके पद्यों का ब्रजभाषा पद्य में तथा गद्य को खड़ीबोली में अनुवाद किया है। अनुवादक को ऐसा करने में कभी-कभी ऐसी सफलता मिली है कि बहुत स्थलों पर मौलिक ग्रंथ के पढ़ने का सा आनन्द मिलता है। रामचन्द्र के विरह में व्याकुल दुःखिनी सीता का वर्णन भवभूति ने बहुत अच्छा किया है। उसी का कविरत्न सत्यनारायण कृत अनुवाद उदाहरण के लिए देखिये—

पियरी परी ओप कपोलन की,
तन में दुबराई बड़ी अति भारी।
लटकाय लटैं बिखरी मुख पै,
उर सोचति मोचति लोचन वारी ॥
अति दीखति आकुल सोगसनी,
करुना रस की जनु मूरति प्यारी।
तन धारी वियोग विथा सी किधौं,
वन आइ रही मिथिलेश कुमारी ॥४॥
(तृ० अं०)

इसी प्रकार वासंती द्वारा किये गए करुण रस-पूरित प्रसिद्ध उपालम्भ वाले श्लोक का अनुवाद देखिये—

तुमही जिय प्रान सबै कछु हौ,
तुम ही मम दूजो हियो सुकुमारी।

तुमही तन काज सुधा सरिता,
इन नैननि को तुमहीं उजियारी ॥
हिय भोरे की यों हो लई भरमाइ कै,
बात बनाय बनाय पियारी ।
पुनि ता सिय को बस गौन भलो,
अब होत कहा कहिबे सों अगारी ॥२६॥
(तृ० अं०)

कविरत्न सत्यनारायण कहीं-कहीं समयानुकूल आपने हिन्दी छन्द भी बदलते गए हैं जो अवसर के उपयुक्त होने के कारण बहुत ठीक जँचते हैं। इसके उदाहरण में दूसरे अंग के १३ वें श्लोक का अनुवाद है जो "जय राम रमा रमनं शमनं" आदि की भाँति विनय के लिए—

जगनायक ज्ञायक पूज्य प्रभो,
गरुड़ध्वज शौरि शरण्य विभो।
प्रिय पावन भावन भक्ति धनी,
जिहं लागि करैं मुनि खोज धनी ॥

आदि के रूप में रचा गया है। इस प्रकार के कुछ पद्य और भी हैं।

परन्तु इन उपर्युक्त अच्छी बातों के साथ-साथ इस अनुवाद में कई त्रुटियाँ भी हैं जिनका उल्लेख यहाँ न करना उचित नहीं। इस पुस्तक का गद्य-भाग शिथिल है। कई स्थानों पर वाक्यों का ठीक-ठीक अनुवाद नहीं हुआ है और कहीं-कहीं तो समानार्थक शब्द भी बेतुके रख दिये गए हैं। यही नहीं, दो-चार श्लोकों का पद्यानुवाद भी बेतरह बिगड़ गया है। प्रथम अंग के २७ वें श्लोक—

किमपि किमपि मन्दं मन्दमासक्ति योगात्,
अविरलित कपोलं जल्पतो रक्रमेण ॥

आदि के माधुर्य को—

संसर्ग अति लहि हृय मिलायें, जुग कपोल कपोल सों।

आदि ने एकदम नष्ट कर दिया है।

कई जगहों पर पद्यों का अन्त्यानुप्रास भी ठीक नहीं। उदाहरण के लिए पृष्ठ १२ में 'वृत्त' के साथ 'अच्छ' का तथा पृष्ठ ६३ में "साँवरो" के साथ "आगरो" का तुक देखिये। इसी प्रकार पृष्ठ १३ में दिये गए—

उद्धार कियो पुरत्रान को
भगवति दया तुव पाइकै ॥२३॥

में १ मात्रा बढ़ जाती है। परन्तु अनुवाद अनुवाद ही है और छन्द शास्त्र-सम्बंधी नियमों का कभी-कभी उल्लंघन कर देना तथा ऐसे अन्य प्रमाद कर बैठना बड़े-बड़े कवियों तक के लिए भी असम्भव नहीं। कविरत्न सत्यनारायण जी का अनुवाद बहुत उत्कृष्ट है और इनकी इस सफलता को देखकर कभी-कभी अनुवाद-कला निपुण भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र तथा राय देवकीप्रसाद जी 'पूर्ण' का स्मरण हो आता है। सत्यनारायण जी का हिन्दी भाषा पर अच्छा अधिकार था।

इन्हीं स्वर्गीय सत्यनारायण कविरत्न का किया हुआ महाकवि भवभूति के 'मालती-माधव' नाटक का भी अनुवाद है जो साहित्यरत्न भण्डार द्वारा ही आगरे से गत वर्ष दूसरी बार प्रकाशित हुआ है। पहिले इसे भी और लोगों ने ही प्रकाशित कराया था। इसे कविरत्नजी ने अस्वस्थता की दशा में १९१४ में आरम्भ किया था और इसके प्रथम बार प्रकाशित होने के पूर्व ही १९१८ में वे चल बसे। इसके अनुवाद की उत्तेजना उन्हें सन् १७३७ के लगभग कविता करने वाले तथा प्रसिद्ध पुस्तक 'रसपीयूष निधि' के रचयिता पण्डित सोमनाथ चतुर्वेदी कृत 'मालती-माधव' के 'माधव विनोद' नामक स्वच्छन्द अनुवाद से

मिली थी। अब तक ये बहुत-से पद्य लिख चुके थे तथा उत्तररामचरित नाटक का अनुवाद भी कर चुके थे। अतएव इन्हें अपनी कवित्व-शक्ति में पूरा भरोसा था। यद्यपि अपनी स्वाभाविक नम्रता के कारण ये इस अनुवाद को कहीं-कहीं अविकल अनुवाद का विकल 'भावानुवाद' कहते हैं, किन्तु फिर भी इन्हें इस यत्न में भी अच्छी सफलता हुई है।

"भाव भवभूति के हैं ही" और "शब्दावली सोमनाथ की" होगी, किन्तु "मूल ग्रंथानुसार यथोचित सम्पादन" भी अवश्य अच्छा हुआ है। इनका क्षेत्र विस्तृत नहीं, किन्तु जितना है, उतने में सफलता है।

अनुवादक ने पहिले अपने अनुवाद को बड़ा सुन्दर चार पंक्तियों के एक पद में पाठकों को समर्पित किया है। उसके उपरान्त आठ पृष्ठों का एक निवेदन लिखा है जिसे पुस्तक के लिखने के अवसर पर तथा इसकी सोमनाथ के 'माधव विनोद' की तुलना पर कुछ उदाहरण देते हुए लिखा है। फिर सात पृष्ठों में लिखी हुई एक भूमिका द्वारा 'उत्तररामचरित' में कही हुई भवभूति विषयक बातों का संक्षेप में वर्णन किया है। अन्त में 'मालती-माधव' नाटक की कुछ विशेषताओं का उल्लेख करते हुए भूमिका समाप्त की गयी है।

'मालती माधव' नाटक की कथा का आधार कवि-कल्पना प्रसूत ही जान पड़ता है। विदर्भराज के मंत्री देवरात का पुत्र माधव पद्मावती राज के मंत्री भूरिवसु की पुत्री मालती से प्रेम करता है और इसी प्रकार मालती भी माधव को चाहने लगती है। दोनों का प्रेम चित्र-दर्शन तथा कभी-कभी हितैषियों की युक्तियों द्वारा कराये गए यदा-कदा के साक्षात् दर्शन से उद्दीप्त होता है। कामन्दकी नाम की एक वृद्धा बौद्ध संन्यासिनी इनमें विवाह हो जाने के लिए यत्न करना चाहती है। यह सुनकर भी कि पद्मावती के राजा ने मालती के लिए वर अपने साले नन्दन को ढूँढ़ रखा है, यह प्रतिज्ञा करती है कि—

चाहे जो कछु होय, प्राण जांइ अथवा रहें।
जतन करूँगी सोय, जासों इन जोगी जुरें ॥५॥ (अं० ४)

परन्तु संयोगवश और भी कई कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं जिनसे मालती तथा माधव दोनों कई बार संकट में पड़ जाते हैं और बहुत कुछ तपाये जाने के उपरान्त अन्त में इन दोनों का संयोग स्थायी हो पाता है। फिर तो उसे राजा भी स्वीकार कर लेते हैं।

इसी कथा को भवभूति ने नाटक के दस अंकों में समाप्त किया है जिनमें से प्रत्येक का उन्होंने मुख्य घटनानुसार नामकरण करके अन्त में लिख दिया है। सम्पूर्ण नाटक शृङ्गार तथा अद्भुत रस से ओतप्रोत है और बीभत्स को भी एक ऐसे स्थान पर रखा गया है, जहाँ शृङ्गार के साथ उसकी मुठभेड़ नहीं हो पाती। इसकी दैववशात् घटनाएँ उपन्यासों में रखी जाने पर एक विचित्र रंग पैदा कर सकती हैं। इसमें प्रेम तथा प्रकृति का वर्णन भी निहायत अनूठा है। कविरत्न सत्यनारायणजी ने कठिन स्थलों पर भी अपना अनुवाद भली-भाँति निभाया है। श्लोकों के पद्यानुवाद और विशेषकर जो पदों के रूप में किये गए हैं बहुत ही मनोहर हैं। माधव अपने प्रिय मित्र मकरन्द के साथ घूमता हुआ मालती के विरह जीवन-संताप से व्याकुल होकर अधीरता पूर्वक पवन को सम्बोधित करके कहता है—

सकल थल विहरत हौ तुम पौन।
भेंटि प्रिया अंग अंगनि कों फिर मो तन परसत क्यों न।
मदन मरोर विवस मृग लोचनि उतकण्ठित दिन रैन।
दुख पावति उत विरह-बिथित, इत मोहूं कौ नहिं चैन॥
मुकुलित कलित कुन्द-कलियन को मधुमय जो मकरन्द।
संगी तासु कहाइ अहो किन बरसावत आनन्द ॥३६॥ (अंक पहला)

फिर, इसी प्रकार वर्णन-सम्बंधी एक श्लोक का अनुवाद देखिए। यह भी माधव की ही उक्ति है।

नव चारु तमाल से ये घनश्याम घने बदरा घहरान लगे।
अरु सीर समीर सने नव नीरन के कन ये बरसान लगे।
सुर चाप छयो, मदमत्त सबै, मुरवागन बागनु गान लगे।
परि कैसे लखों इन ओर चहूं जब प्यारी, तबै दिगि प्रान लगे ॥१८॥ (अंक ६)

ऐसे ही कई स्थलों पर अनुवाद अनुवाद-सा जान ही नहीं पड़ता। श्लोक मिलाकर देखने में भी अधिक अन्तर नहीं। कई पद इनके पूर्ण रूप से मौलिक कहलाने योग्य हैं। ऐसा ही एक पद्य, आठवें अंक अर्थात् पृष्ठ ११३ में है जिसमें वीर रस की कविता बड़े अच्छे ढंग के साथ निभायी गई है।

कविरत्न सत्यनारायण के 'मालती माधव' का गद्य-भाग भी अच्छा है। इनके उत्तर रामचरित से इस विषय में यहाँ अधिक सफलता मिली है। दो-तीन उदाहरणों के लिए पृष्ठ ४०,४४ तथा ७६ देख सकते हैं। जान पड़ता है, अनुवाद की भाषा इधर और भी सुधर चली थी।

परन्तु कविरत्नजी द्वारा किये हुए दो-एक शब्दों के प्रयोग कहीं-कहीं बहुत खटकते हैं। 'मालती माधव' नाटक के अनुवाद में उनको 'आप' अथवा 'अपने' के स्थान पर पृष्ठ ७, १६, ७३, ८६ तथा १४३ में 'अपकों', 'अपुही अपु' तथा 'अपुहि आप' को लाना ठीक नहीं जँचता। 'उत्तर राम चरित' के अनुवाद में भी इन्होंने "अच्छे चुम्बन" करने तथा (पृष्ठ ६० तथा १३८ में) "बालजुमीक" जैसे शब्द बनाने के दोष के भागी कहे जा सकते हैं।

उपर्युक्त दोनों पुस्तकें अनुवादित हैं। अतएव उनमें आये हुए पात्रों के चरित्र-चित्रण आदि के कार्यों में अनुवाद का कोई हाथ नहीं।

अनुवाद की दृष्टि से दोनों काफ़ी अच्छी हैं। हिन्दी के साधारण जानकार भी इन्हें नीचे दिये हुए फ़ुटनोटों के आधार पर मज़े में समझ सकते हैं।

आजकल के लिखे पौराणिक नाटकों के नमूने के लिए अभी गत वर्ष प्रकाशित की गई हिन्दी के सुप्रसिद्ध परिश्रमी लेखक श्याम बिहारी मिश्र, एम० ए० तथा शुकदेव बिहारी मिश्र बी० ए० की 'पूर्व-भारत' नामक पुस्तक ले सकते हैं। यह लखनऊ की गंगापुस्तकमाला का तेरहवाँ पुष्प है और महाभारत के विराट पर्व तक की कथा के आधार पर मौलिक नाटक के रूप में लिखी हुई है। लेखकों ने कदाचित् पुस्तक का ऐसा नामकरण इसलिए किया हो कि इसमें महाभारत का पूर्व भाग तो वर्तमान है ही, इसके साथ ही प्राचीन भारतवर्ष की दशा का भी परिचय मिल जाता है। परन्तु ऐसा करने में किसी-किसी दृश्य में दी हुई कतिपय काल्पनिक पात्रों की बातचीत बाधा डालेगी। इसमें ऐतिहासिक प्रमाद (anachronism) का भय है। हाँ, 'महावीर चरित' और 'उत्तर रामचरित' में दिये हुए रामायण की कथा के दो खण्डों के समान महाभारत की कथा में भी विभाग करके यदि लेखक वक्तव्य में लिखे अनुसार 'पूर्वभारत' के साथ ही एक 'उत्तर भारत' की भी रचना करने वाले हैं, तो ठीक है। परन्तु ऐसे विस्तृत विषय पर सफलता पूर्वक नाटक निर्माण करना कठिन काम है।

प्रस्तुत पुस्तक में तीन अंक हैं जो क्रमशः ६, ११ तथा ११ दृश्यों में विभाजित किये गए हैं। इनमें से पहिले अंक में धृतराष्ट्र की सभा में महर्षि व्यास का जाना तथा वहाँ पर राज्य की कार्यवाही पर बातचीत, राजा द्रुपद के यहाँ द्रोण का अपमानित होकर क्रुद्ध होना, कौरव तथा पाण्डव बालकों का खेल और द्रोण द्वारा उनकी सहायता, दुर्योधन आदि की पाण्डवों के विरुद्ध मंत्रणा, युवकों की शस्त्रकला-परीक्षा,

द्रोण का द्रुपद के विरुद्ध पाण्डवों को भड़कना, दुर्योधन का कर्ण के द्वारा धृतराष्ट्र को पाण्डवों के विरुद्ध करने का यत्न करना, लाक्षागृह से पाण्डवों का प्राण बचाकर निकलना तथा पुरोचन का भस्म होना, दूसरे अंक में गंगा तट पर पाण्डवों की दशा का चित्रण तथा भीम और हिडिम्बा का मिलाप, दुर्योधन का लाक्षागृह की असफलता पर दुःख, द्रुपद की सभा में अर्जुन द्वारा मत्स्य-वेध, पाण्डवों का कुम्हार के घर रहना, धृतराष्ट्र का पाण्डवों को इन्द्रप्रस्थ का राज्य देना, फिर युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ और शिशुपाल-वध, दुर्योधन का मित्रों के साथ द्यूत के लिए मंत्रणा तथा द्यूत का खेल, युधिष्ठिर की हार और द्रौपदी का चीर-हरण। शेष तीसरे अंक में पाण्डवों का वनवास, अर्जुन की तपस्या और वरदान प्राप्ति, अर्जुन का फिर इन्द्र पुरी में जाना, बिराटपुर में पाण्डवों की राजा के यहाँ नौकरी, कीचक की नीचता तथा उसका भीम-द्वारा वध किया जाना, कौरव सेना द्वारा बिराट् के पशुओं की चोरी तथा उनसे और प्रच्छन्न अर्जुन से संग्राम तथा अन्त में पाण्डवों को पहिचानकर बिराट् का अपनी पुत्री उत्तरा को उन्हें समर्पित करना वर्णित है। बीच-बीच में द्वितीय अंक के तीसरे, सातवें तथा दसवें और तृतीय अंक के चौथे दृश्य द्वारा कल्पित पात्रों के मुख से छोड़ी हुई कथा पूरी कराई गई है। परन्तु इस यत्न में कुछ भद्दापन भी आ गया है। कीचक और सैरन्ध्री की कथा के लिए भी तीन दृश्य भर देना उपयुक्त नहीं।

पुस्तक के प्रथम दृश्य में दिये हुए संवाद से लेकर अन्तिम दृश्य के वार्तालाप तक सरसरी दृष्टि से देखने पर जान पड़ता है कि नाटक केवल एक बड़ी कथा को संक्षेप में लिखकर खेले जाने के लिए रचा गया है। लेखकों का जितना कथा की ओर ध्यान है, उतना उस कथा के पात्रों के चरित्र-चित्रण तथा प्रत्येक दृश्य को यथासम्भव आपस में सम्बद्ध करने की ओर नहीं। किसी पहिले दृश्य का पिछले दृश्यों पर कितना ऋण हुआ

करता है, किस प्रकार एक साधारण-सी घटना थोड़ी दूर जाकर कथानक के पूरे प्रवाह को निपथ कर देती है और किस प्रकार अपनी रचना-चातुरी द्वारा नाटककार दर्शकों की मनोवृत्तियों पर पूरा आधिपत्य कर लेता है, ये आवश्यक बातें लेखकों का ध्यान आकर्षित नहीं कर पायी हैं। उन्हें, जान पड़ता है, अपने नाटक के आधार के सुदृढ़ होने में इतना पक्का विश्वास हो गया था कि वे इन बातों का विचार तक नहीं कर सके। नाटक में ऐसा कोई पात्र नहीं है जिसे हम नियमानुकूल नायक कह सकें और न कोई उसके उपयुक्त नायिका है। रंग बहुतों पर चढ़ाया गया है, किन्तु पूर्ण रूप से कोई नहीं रँगा जा सका। संख्या में अधिक पात्रों तथा घटनाओं के रहने पर यह कठिनाई सदा उपस्थित हुआ करती है। पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों की रचना में ऐसे ही कारणों से पूरी सफलता नहीं हो पाती। कथा को पूर्ण रूप से ध्यान में रखने वाले, किन्तु कभी-कभी अधिक प्रभाव डालने वाले नाटक लिख डालते हैं। महाभारत की कथा के विस्तार पर अधिक ध्यान न देने के कारण कई नाटककार अब तक खेलने योग्य साधारणतया अच्छे नाटक लिख चुके हैं। फिर भी यह नाटक की पुस्तक थोड़े में महाभारत की कथा जतलाने के लिए अच्छी है।

'पूर्व भारत' में कई जगह हिन्दी के पुराने कवियों की पंक्तियाँ कहावतों की भाँति उद्धृत की गई हैं जो दो-एक अवसरों पर अनुचित-सी भी कही जा सकती हैं। दो-एक स्थानों पर पुराने हिन्दी कवियों के भावों का भी अपहरण है। जान पड़ता है, ऐसा कार्य अधिक अध्ययन के कारण प्रभाव उत्पादन करने के लिए किया गया है। परिचित शैली में किसी बात का कहना कोई बहुत अनुचित नहीं। लेखकों की भाषा गद्य तथा पद्य दोनों में अच्छी है। इनका भावगत शैथिल्य आश्चर्य-जनक होता है।

उपर्युक्त कुछ बातों के कारण 'पूर्वभारत' नाटक को हम वक्तव्य के

लेखक और सम्पादक के शब्दों में "कवित्व से कमनीय, नाटकत्व से निर्मल, सद्भावों से सुन्दर और मौलिकता से मंडित" नहीं कह सकते, किन्तु इतना कहने के लिए कोई भी तैयार हो जायगा कि नाटकीय ढंग की भाषा तथा बाहरी रचना के विचार से पुस्तक अच्छी है। इसके लिए बहुत-से अनावश्यक विशेषणों का प्रयोग विज्ञापन कला का नमूना मात्र है।

इन नाटकों के सिवाय कभी-कभी ऐतिहासिक, सामाजिक और धार्मिक नाटक भी निकल रहे हैं जो इस ओर उन्नति करते समय लाभ-दायक प्रयास के द्योतक हैं।



१५. श्री नन्दिनि : एक संस्मरण

पंतजी को पहले पहल मैंने उनके श्री नन्दिनि वाले रूप में ही पाया था। जहाँ तक स्मरण है, सन् १६२० ई० के जुलाई या अगस्त का महीना रहा होगा। मैं प्रयाग के हिन्दू बोर्डिंग हाउस में रहा करता था और मेरे कमरे के बगल में ही रतूड़ी था जो बड़े नटखट स्वभाव का था। एक दिन सवेरे जब मैं अभी अपनी किताब खोलकर पढ़ने जा रहा था कि उसने दौड़ते हुए आकर कहा—"चौबेजी, श्री नन्दिनि को देखा है ? वह देखो देव्या के साथ-साथ जा रहा है।" 'देव्या' पंतजी के बड़े भाई देवीदत्त पंत को कहा करते थे और उनसे मेरा अच्छा परिचय भी था। मुझे उनके साथ 'श्री नन्दिनी' को जाता हुआ पाकर कुतूहल-सा हुआ और मैंने कमरे से बाहर निकल कर देखा। दोनों दो-चार पग आगे बढ़ चुके थे। इस कारण, मैं देव्या से कुछ बातें नहीं कर सका, किन्तु श्री नन्दिनि द्वारा प्रभावित होकर ही लौटा। गोरा छरहरा बदन, सिर पर लंबे-लंबे बाल, ढीला-ढीला-सा कोट और नीचे पायजामा। शोर करते हुए तेजी के साथ चप्पलें खटखटा कर चलने वाले देव्या के साथ नीची लजीली दृष्टि डालते हुए आगे बढ़ने वाले इस युवक को देखकर मुझे इसमें कुछ नवीनता-सी लगी। रतूड़ी के यह कहने पर कि ये कविता भी किया करते हैं मुझे इनके नाम 'श्री नन्दिनि' की सार्थकता का बोध हो सका।

दूसरी बार जब हम लोग बोर्डिंग हाउस के बाथरूम के निकट मिले, इनसे परिचय भी हो गया। दोनों भाई एक साथ थे और देव्या ने मेरे पूछने से पहले ही इनके विषय में बतला दिया। उसने मुझे यह भी

वचन दिया कि किसी दिन हमें इनकी कविता सुनने का भी शीघ्र अवसर मिलेगा। उस दिन पंतजी से पहले पहल बातें करते समय मुझे यह भी पता चल गया कि इनकी बोली कितनी मधुर है। इनकी सुन्दर मुखाकृति, इनके अधखुले नेत्र, इनकी वाणी तथा इनके शब्दों के बाल-सुलभ अल्हड़पन का मुझ पर एक विचित्र-सा प्रभाव पड़ा और मुझे ये स्वभावतः संकोचशील भी जान पड़े। फिर तो मुझे तीसरी बार इनकी कविता सुनने का भी सुअवसर प्राप्त हो गया। एक कमरे में अपनी मित्र-मण्डली के लोगों ने प्रबन्ध करके एक छोटी-सी कवि गोष्ठी का आयोजन किया और शिवाधार पाण्डेयजी भी निमंत्रित हुए। पंतजी ने उस दिन अपनी 'बादल' शीर्षक कविता का गान बड़े सुरीले स्वर में किया।

पंतजी भीड़-भक्कड़- पसन्द आदमी कभी नहीं रहे, किन्तु अपने सीमित क्षेत्र में ये कभी-कभी खुलकर खेल लेते थे। बोर्डिंग हाउस की ही एक ऐसी घटना का स्मरण आ रहा है, जब हमें इनके उस रूप का भी कुछ पता चला था। हम लोग उन दिनों अपने खाने के लिए घी प्रायः अपने देहातों से मँगाकर कमरे में रख लिया करते थे और चौके में खाने जाते समय उसमें से कुछ अपने साथ ले जाया करते थे। विनोद-शील मित्रों का यह स्वभाव-सा बन गया था कि हमें चिढ़ाने और परेशान करने के उद्देश्य से कभी-कभी हमारे उन घी के भाण्डों को या तो कहीं इधर-उधर हटा दिया करें अथवा उनमें से कुछ निकाल कर उसे काम में ले आयें। कभी-कभी ऐसा भी होता था कि घी से ये लोग हलवा-जैसी कोई चीज तैयार कर लेते और उसकी दावत में सम्मिलित होने के लिए उस व्यक्ति को भी निमंत्रित कर देते जिसके यहाँ से चुपके-चुपके घी ले आते थे। फिर जब खाना-पीना समाप्त हो जाता तो अन्त में भेद खोल दिया जाता और उसे सहर्ष धन्यवाद भी दे दिया जाता था। परन्तु कभी-कभी ऐसा नहीं भी किया जाता था और न ऐसे अवसर ही आ पाते थे। मेरे घी के भाण्डे के सम्बंध में भी दो-चार

बार यही हुआ कि मैं उसमें से चोरी गये घी का कोई पता न लगा सका। जब कम होता देखता था तो कुछ-न-कुछ सन्देह करता था, किन्तु फिर यह सोचकर कि यदि ऐसा होता तो क्यों न भेद खुल जाता, मैं चुप रह जाता था।

अन्त में, जब अनेक प्रकार की चेष्टाएँ करने पर भी, मैं इन 'सिद्धहस्त' मित्रों को एक बार भी नहीं पकड़ पाया तो इन्होंने मेरे यहाँ स्वयं आकर उसका पूरा रहस्य उद्‌घाटित किया और मेरी हँसी उड़ाई। कहना न होगा कि इसमें पंतजी का भी हाथ रहा। इस बात का इन्होंने एक बार फिर स्मरण दिलाया, जब सन् १९५३ ई० की २५वीं जुलाई को प्रयाग के ही 'एनी बेसेंट हाल' में, मेरी ६०वीं वर्षगाँठ मनायी जा रही थी और इन्होंने मेरे सम्बंध में कहते समय, अपनी उस करतूत की भी चर्चा कर दी।

१६. भारतीय हिन्दी परिषद्*

किसी भाषा और उसके साहित्य का विकास आप से आप भी हो सकता है और देश कालानुसार उसमें परिवर्तन भी होते जा सकते हैं। इसके लिए किसी व्यक्तिगत वा संस्था विशेष की ओर से पथ-निर्देशन वा प्रोत्साहन का होना अनिवार्य नहीं है। फिर भी, इतना अवश्य है कि हम उसकी ऐसी प्रगति पर कभी न कभी विचार किया करते हैं और उसमें न्यूनाधिक सुव्यवस्था लाने की ओर प्रायः प्रवृत्त भी होते हैं। इसीलिए हम देखते हैं कि ऐसे यत्न बराबर होते आये हैं और अनेक साधनों द्वारा उसके निर्माण एवं प्रचार में सदा सहायता मिलती आई है। ऐसे विकास के सम्बंध में जो प्रमुखतः चार दिशाओं अथवा निर्माण, प्रचार, सुरक्षा एवं प्रशिक्षण के रूपों में दीख पड़ता है। आज तक बहुत-सी संस्थाओं ने काम किया है और उनसे इन चारों के विषय में सदा संरक्षण भी प्राप्त होता आया है। दक्षिण के प्रसिद्ध तामिल संघम् जैसी संस्थाओं ने अपने यहाँ की भाषा एवं साहित्य के निर्माण में हाथ बँटाया है, अनेक साम्प्रदायिक दलों ने प्रयः श्रेष्ठ ग्रंथों की प्रतिलिपियों द्वारा उनके प्रसार का काम किया है। विभिन्न ग्रंथागारों एवं मठों ने ऐसे साहित्य की सुरक्षा का भार सँभाला है और प्राचीन विद्यापीठों ने समय-समय पर उसके प्रशिक्षण की भी देखभाल की है। आज भी यह परंपरा चली जा रही है और इन कर्तव्यों का पालन क्रमशः सभा, सम्मेलन, अकादमी, प्रेस, पुस्तकालय तथा विश्वविद्यालय जैसी संस्थाओं द्वारा किया जाता दीख रहा है।

---

* परिषद् के सोलहवें अधिवेशन रायगढ़ (म० प्र०) का सभापति-भाषण

जब तक हमारे सामने पहले हिन्दी भाषा एवं साहित्य के अधिकाधिक प्रचार मात्र की ही समस्या रही इसके लिए हिन्दी प्रेमियों की ओर से आन्दोलन किये जाते थे और प्रधानतः इसी ध्येय को सामने रखकर कई संस्थाएँ भी स्थापित की गई थीं। ये संस्थाएँ सर्व-साधारण की ओर से चलायी जाती थीं और ये एक ही साथ उन चारों कार्यों का भी सम्पादन करती रहती थीं। साहित्य के निर्माताओं को ये अभिनन्दित करती रहती थीं, उन्हें पदक और पुरस्कार प्रदान करती थीं तथा विशिष्ट ग्रंथों का प्रकाशन भी करती थीं। इसके सिवाय कभी-कभी ये दुर्लभ ग्रंथों की खोज करतीं तथा उपलब्ध साहित्य की सुरक्षा का प्रबन्ध करती थीं और साहित्य के अध्ययन को विशेष प्रोत्साहन प्रदान करने के लिए इन्होंने कई परीक्षाओं का आयोजन भी कर रखा था। इनके ऐसे यत्न किसी न किसी रूप में आज भी जारी हैं और कहना न होगा कि बहुत कुछ इन्हीं के प्रयास के फलस्वरूप हिन्दी का प्रचार देश के ऐसे कोनों तक में भी हो पाया है, जहाँ की जनता इससे न केवल बहुत कम परिचित रही, अपितु जहाँ पर किसी ऐसे सरल साधन के अभाव में, उसके साथ पहले आवश्यक पारस्परिक संपर्क का पूरा लाभ भी नहीं उठाया जा सकता था। हमें यह कहने में भी संकोच नहीं कि ऐसी संस्थाओं ने हिन्दी के क्रम-विकास का मार्ग प्रशस्त कर उसे जनप्रिय भी बनाया है तथा उसके भारतीय संविधान द्वारा राजभाषा बनाये जाने में भी सहायता की है।

भारतीय हिन्दी परिषद् की स्थापना भी वस्तुतः ऐसे ही समय हुई थी और इसके सामने भी स्वभावतः वैसी सी समस्याओं की प्रधानता रह सकती थी। परन्तु फिर भी इसकी यह एक विशेषता थी कि इसके संचालकों में अधिकतर वे लोग ही थे जिनका सम्बंध विश्वविद्यालयों से था। जो, इसी कारण, उस समय प्रचलित प्रश्नों के अतिरिक्त, विशेष ध्यान उन बातों की ओर भी दे सकते थे जो हिन्दी भाषा एवं साहित्य के

स्थायी महत्व एवं मूल्यांकन को भी प्रश्रय दे सकती हैं तथा जिन्हें अपनी दृष्टि में रखकर किये गए यत्नों द्वारा इसे विश्व की उन्नत भाषाओं में उच्च स्थान दिलाया जा सकता है। आज भी इस संस्था के अभिभावकों में विशेषकर ऐसे ही लोग हैं जो विविध शिक्षण-संस्थाओं के साथ प्रत्यक्ष रूप में सम्बद्ध हैं और जिनके सामने हिन्दी भाषा एवं साहित्य के अध्ययन और अध्यापन की समस्याएँ सदा व्यावहारिक रूप में भी उठा करती हैं। इसके सिवाय इसमें बहुत-से ऐसे लोग भी सम्मिलित हैं जिनसे किसी ऐसी व्यवस्था के साथ कोई लगाव नहीं, किन्तु जो अपनी भाषा एवं साहित्य के अध्ययन और अनुशीलन में आपसे आप दत्तचित्त रहा करते हैं। फलतः इन दोनों ही वर्गों के लोगों की यह स्वाभाविक इच्छा हो सकती है कि किस प्रकार हिन्दी भाषा को सक्षम और समृद्ध बनाया जाय तथा किस प्रकार इसके साहित्य की सर्वांगीण उन्नति कर उसे विश्व साहित्य के मंच पर बिठाया जा सके। ऐसी दशा में इसके सामने हिन्दी के हित की बातें केवल उसके लिए प्रचार-कार्य तक ही सीमित नहीं रह सकतीं, प्रत्युत उसके विषय में ये ठेठ शास्त्रीय चिन्तन तक भी उठायी जा सकती हैं।

हिन्दी में आजकल प्रकाशित होने वाले साहित्य पर सरसरी दृष्टि डालने से भी पता चलता है कि जहाँ तक ऐसी पुस्तकों की संख्या का प्रश्न है, इस ओर बड़ी उन्नति हुई है और वर्ण्य विषय एवं रचना-शैली दोनों की दृष्टि से विशेष प्रगति ही दीख पड़ती है। इसका काव्य साहित्य, एकांकी नाटक, उपन्यास, कहानी, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, निबन्ध, आलोचना, लघुकथा, अग्रलेख तथा रेडियो रूपक, प्रत्येक अपने-अपने नये ढंग से निर्मित और प्रकाशित होते जा रहे हैं। यदि केवल इतना ही पर्याप्त समझा जा सके तो यह भी कहा जा सकता है कि हिन्दी भी किसी अन्य उन्नत भाषा से किसी प्रकार पीछे नहीं है। इसके सिवाय, जहाँ तक हिन्दी भाषा के प्रयोग और व्यवहार में आने का प्रश्न है, हमें यह भी

पता है कि न केवल देश के कई राज्यों में, अपितु केन्द्रीय शासन के अनेक विभागों में थी इसका प्रचलन हो चुका है और यह धीरे-धीरे सर्वमान्य नहीं तो कम से बहुमान्य बनती जा रही है। हिन्दी में आजकल बहुत-से महत्वपूर्ण ग्रंथ अनुवादित होने भी जा रहे हैं। इसी प्रकार स्वयं इसकी भी कई पुस्तकों का अनुवाद विदेशों तक में हो रहा है। हिन्दी प्रेसों की वृद्धि, उनके द्वारा प्रकाशित होने वाले विभिन्न सामयिक पत्रों का प्रचार हिन्दी में शिक्षा देने वाली संस्थाओं की अभिवृद्धि तथा रेडियो एवं चल-चित्रों के माध्यमों से बढ़ती जाने वाली इसकी लोकप्रियता हमारे लिए प्रसन्नता की बात समझी जा सकती है। यदि केवल इसके प्रचार एवं लोकप्रियता की दृष्टि से विचार किया जाय, तो हम कह सकते हैं कि इसने निस्सन्देह बहुत अधिक उन्नति की है।

परन्तु, स्पष्ट है कि इन बातों का सांस्कृतिक अथवा राजनीतिक मूल्य चाहे जितना भी आँका जा सके, इन्हें हम साहित्यिक दृष्टि से भी उतना महत्व नहीं दे सकते, जब तक हम इस बात का निर्णय भी न करलें कि इनमें तदनुकूल शाश्वत गुणों का समावेश कहाँ तक पाया जा सकता है। किसी भी भाषा की कोई रचना एक अवसर पर पर्याप्त मनोरंजन कर सकती है और उसके द्वारा कभी क्षणिक जनहित की सम्भावना भी हो सकती है। कभी-कभी तो यहाँ तक हो सकता है कि ऐसी किसी विशिष्ट कृति का प्रभाव कुछ लंबे समय तक भी कायम रह जाय। परन्तु इसके साथ प्रायः यह भी देखा जा सकता है कि अपमें में कोई स्थायी महत्व न होने के कारण ऐसी रचनाओं का सर्वथा लोप भी हो जाया करता है। यदि पीछे कभी उनकी चर्चा भी आती है तो उन्हें, केवल किसी कौतूहल की वस्तु की भाँति, एक बार स्मरण मात्र कर लिया जा जाता है। इस कारण बहुत सम्भव है कि कोरी संख्या-वृद्धि के विचार से धड़ाधड़ प्रकाशित होने वाली आजकल की अनेक रचनाएँ वस्तुतः उत्कृष्ट न समझी जा सकें। लगभग यही बात हम उन अनेक हिन्दी शब्दों के विषय

में भी कह सकते हैं जिनके प्रयोग यदाकदा अंधाधुंध होते जा रहे हैं। जब जो चाहता है उन्हें अपने किसी व्यवहार में मनमाने ढंग से लाता रहता है और उसके प्रयोग सम्बंधी औचित्य पर विचार नहीं कर लेता। कई राज्यों के शासकीय व्यवहार में आने वाले बहुत से शब्दों और आजकल के कोशों में पाये जाने वाले अनेक शब्दों के भी औचित्य में कमी दीखती है।

शब्दों के प्रयोग सम्बंधी औचित्य अथवा अनौचित्य की ओर हमारा ध्यान विशेषकर तब जाया करता है, जब हम अपनी भाषा द्वारा उन बातों को प्रकट करने लगते हैं जो कभी पहले उसके माध्यम से नहीं कही गई थीं। शिक्षण-संस्थाओं में जब ऐसे विषय पढ़ाये जाने लगते हैं, जिन्हें हम आजतक अंग्रेजी जैसी भाषाओं की ही पुस्तकों में पढ़ चुके रहते हैं तो अध्यापकों को उन्हें समझाने में कठिनाई पड़ती है। मूल शब्द जिस आशय को प्रकट किये रहता है उसकी अपनी पृथक् विशेषता रहा करती है, जिस कारण वह वस्तुतः रूढ़ि-सा बन गया रहता है। लाख यत्न करने पर भी पहले वैसा ही शब्द अपनी भाषा में नहीं मिलता और हमें विवश होकर प्रायः कोई सर्वथा नया शब्द गढ़ना पड़ जाता है। परन्तु ऐसे शब्द भी यदि सही व्युत्पत्ति के आधार पर न बनाये जायँ तो बहुधा भ्रान्त धारणा को ही जन्म देते हैं। यदि उस प्रकार भी तैयार किये जायँ तो वे कभी-कभी इतने कर्णकटु वा अपरिचित से भी लगते हैं कि उनका प्रयोग सदा स्वीकृत नहीं हो पाता। सबसे बड़ी कठिनाई तो हमें उस समय जान पड़ती है, जब मूल शब्द का प्रयोग किसी वैज्ञानिक विषय से सम्बद्ध होता है और जिसे अंग्रेजी तक भी अपने यहाँ उनके लैटिन, ग्रीक अथवा अन्य किसी ऐसी भाषा के मूलरूप में कोई परिवर्तन नहीं ला सकी रहती है और जिसके ठीक अर्थ का बोध कराने के लिए अनेक छोटे-बड़े वाक्यों का प्रयोग करना आवश्यक बन जाता है। अतएव, बहुत-से हिन्दी-प्रेमी विद्वानों का भी मत है कि जो शब्द

पहले से पारिभाषिक रूप धारण कर चुके हैं उन्हें भरसक अपने मूल रूपों में ही स्वीकार कर लेना चाहिए।

ऐसे लोगों से भी दो पग आगे बढ़े हुए वे सज्जन होते हैं जो न केवल वैज्ञानिक विषय को ही, प्रत्युत हिन्दी एवं संस्कृत जैसी भाषाओं के साहित्य तक को भी अंग्रेजी के माध्यम से ही पढ़ाये जाने का प्रस्ताव रखते हैं और विशेषतः इसे उच्च कक्षाओं में अनिवार्य तक करा देना चाहते हैं। अंग्रेजी के माध्यम द्वारा अन्य भाषाओं के साहित्य पढ़ाने की प्रणाली उस समय चली थी, जब यहाँ पर अधिकतर अंग्रेज अध्यापक रहा करते थे और उनके तथा बहुत से वैसे अहिन्दी भाषी अध्यापकों के लिए भी ऐसा करना सुगम हुआ करता था। परन्तु जो बात पहले अंग्रेजों के समय में चल निकली उसे भरसक किसी रूप में भी कायम रखना आज तक के अंग्रेजी भक्तों को अच्छा लगता है। वे चाहते हैं हिन्दी को जिसे वे इस योग्य नहीं समझते किसी प्रकार इसके लिए अवसर न दिया जाय। इनके अतिरिक्त कुछ लोग ऐसे भी मिलते हैं जो अंग्रेजी के स्थान पर अपने यहाँ की क्षेत्रीय भाषा के ही प्रयोग का समर्थन करते हैं। उनका कहना है कि जब अध्यापन-कार्य में अंग्रेजी से काम न लिया जाता हो तो हम उसकी जगह अपनी निजी भाषा को ही क्यों न अपनायें। इन दोनों प्रकार के सज्जनों का या तो हिन्दी के प्रति स्वेच्छा विरोध का भाव रहा करता है अथवा उसके महत्व को ये लोग उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं और इन्हें इस बात की कभी कोई परवाह नहीं रहा करती कि यदि हमें किसी एक महान् राष्ट्र के रूप में विकसित होना है अथवा यदि इस प्रकार हम कभी अपनी भारतीय विशेषताओं के बल पर विश्व को कुछ दे सकने योग्य होना चाहें तो इनके मतों द्वारा कहाँ तक सहायता मिलेगी? क्या इस प्रकार कार्य करने से हमारी भाषा में एकरूपता लाते समय किसी बाधा का अनुभव न होगा? अथवा क्या ऐसा करते समय हमें स्वयं अपनी पृथक् सत्ता का भी बोध नहीं होगा जो भारतीय

राष्ट्र के निर्माण के कभी अनुकूल नहीं कहा जा सकता ? हाँ, जहाँ तक पारिभाषिक शब्दों के हिन्दी में लाने का प्रश्न है, हम इसके लिए उतना आग्रह भरसक तब तक नहीं कर सकते, जब तक वैसे विषयों में हमारे विद्वान् अच्छी संख्या में पूर्ण पारंगत नहीं हो जाते और वे इस प्रकार प्रश्न को सुलझा नहीं पाते ।

हमारे यहाँ के बहुत से विद्वानों ने ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में आज तक अनुसंधान का कार्य किया है उन्होंने कभी-कभी नयी बातें भी खोज निकाली हैं । परन्तु खेद की बात है कि वे अपने परिणाम की मौलिक बातों को भी कभी अपनी भाषा के ही शब्दों द्वारा प्रकट नहीं किया करते । यह अवश्य है कि उनका विशेष ध्यान, सर्वप्रथम, अपनी बातों को विदेशी विद्वानों तक पहुँचा कर उनसे समर्थन प्राप्त करने का रहा करता है । इसके लिए उन्हें अंग्रेजी अथवा अन्य ऐसी भाषा के माध्यम का प्रयोग आवश्यक हो जाया करता है। किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि यदि वे अपनी नयी उपलब्धियों तक को भी कहीं अपनी भाषा का नाम दे पाते तो वे और भी उच्च बन जा सकते थे । अनुसंधानों की तो यहाँ पर यह दशा रही है कि अभी कुछ ही दिनों पहले तक, हिन्दी जैसी भाषा तथा उसके साहित्य सम्बंधी विषयों का भी प्रतिपादन सदा अंग्रेजी के माध्यम द्वारा ही होता था और उसी भाषा में पूरे थीसिस का भी लिखा जाना आवश्यक समझा जाता था । यदि कोई शोधार्थी अपना शोध-कार्य योरुप में किया करता था तो उसे अपना निबन्ध फ्रेंच भाषा तक में लिखना पड़ता था । किसी विषय पर मौलिक रूप से विचार करना तथा फिर उसको किसी विदेशी भाषा द्वारा ही प्रकट करने के लिए बाध्य होना यह एक ऐसा अभिशाप था जिसकी कल्पना केवल किसी पराधीन देश में ही की जा सकती है और अच्छा हुआ कि उससे हमें आज मुक्ति मिल चुकी है । सम्भव है कि कुछ दिनों में हमारे योग्य शोधार्थी अपने ज्ञान-विज्ञान सम्बंधी विषयों तक के लिए हिन्दी के माध्यम द्वारा उत्तर

देने की व्यवस्था सुलभ कर सकें जिसकी व्यवस्था कुछ उच्च कक्षाओं के लिए कहीं-कहीं आज भी हो चुकी है।

हिन्दी भाषा एवं साहित्य सम्बंधी विषयों में शोध-कार्य आजकल अनेक विश्वविद्यालयों के तत्वावधान में हो रहा है। जहाँ तक पता है, इस कार्य का आरम्भ हुए अभी २७-२८ वर्षों से अधिक नहीं हुआ होगा, किन्तु जैसी प्रगति है उससे ऐसा लगता है कि यदि इसी वेग से काम होता गया तो अगले कुछ ही वर्षों में पी-एच० डी० एवं डी० लिट् उपाधिधारियों की संख्या बहुत बड़ी हो जायेगी। प्रायः देखा जाता है कि हिन्दी (एम०-ए०) का विद्यार्थी अपनी परीक्षा का अन्त होते ही डाक्टरेट के फेर में पड़ जाता है। यदि शिक्षा-संस्थाओं से अन्यत्र उसे किसी नौकरी के मिलने की आशा नहीं रह गई तो वह बहुधा इधर लग भी जाया करता है। पहले तो वह किसी उपयुक्त विषय के चुनाव का प्रश्न सुलझाने के उद्देश्य से अपने अध्यापकों अथवा अन्य जानकार व्यक्तियों के यहाँ दौड़-धूप लगाता है और चाहता है कि कोई ऐसा सुगम पथ मिल जाय जिससे अपने ध्येय तक पहुँचने में कोई कठिनाई नहीं पड़े। फिर अपने भावी निबन्ध की रूपरेखा प्रस्तुत करके अपने कार्य में कुछ अधिक गम्भीरता के साथ प्रवृत्त हो जाता है। उसे न तो सदा किसी उपयुक्त निर्देशक द्वारा पथ-प्रदर्शन उपलब्ध होता है, न वह पर्याप्त साधनों का भली-भाँति उपयोग ही कर पाता है, किन्तु फिर भी उसे अपने उद्देश्य की सिद्धि में सफलता बहुत कम हुआ करती है। फलतः जो निबन्ध इस प्रकार तैयार होकर कभी-कभी प्रकाशित भी होते हैं उन्हें देखकर अधिकतर असन्तोष का ही अनुभव करना पड़ता है।

अतएव, हिन्दी में शोध-कार्य इस समय सुव्यवस्थित रूप में नहीं हो रहा है, इतना हमें स्वीकार करना पड़ेगा। अधिक संख्या में पी-एच० डी० अथवा डी० लिट्० तैयार करने की अभिलाषा से शोध-कार्य जैसे गम्भीर एवं महत्वपूर्ण विषय को किसी 'चलता' काम का रूप देकर उसके द्वारा

उपलब्ध होने वाली उपाधि का मूल्य कम कर देना कभी अन्त में हितकर नहीं कहला सकता, प्रत्युत इससे बराबर क्षति होने की ही अधिक आशंका रहती है। हमें इस प्रश्न पर ध्यानपूर्वक विचार करना चाहिए। यदि हम किसी डिग्री को सचमुच विशेष महत्व देना चाहते हैं तो हमारे लिए आवश्यक है कि उसे पूरा गुरुत्व भी प्रदान करें। जिस किसी भी एम० ए० उपाधिधारी को शोध-कार्य का दायित्व न सौंप दें, पहले उसकी शोध सम्बंधी प्रवृत्ति की परीक्षा करलें। उसकी प्रबन्ध लेखन-सम्बंधी क्षमता पर आवश्यक विचार कर लें और तब उसके आवेदनपत्र को स्वीकार करें। तत्पश्चात, उसके निर्देशक एवं परीक्षकों के चुनाव में भी पूरी सावधानी बरती जानी चाहिए। इसके लिए केवल उन्हीं लोगों को आमंत्रित करना चाहिए जो प्रबन्ध के विषय के जानकार हों। यदि निर्देशक ऐसे विषय का पंडित न हो तो वह शोधार्थी की कठिनाइयों का भली-भाँति निराकरण नहीं कर सकता, न उसे इसी कारण, वह ऐसे किसी मार्ग का निर्देशन ही कर सकता है जिसपर अग्रसर हुए बिना उसका अपने ध्येय तक पहुँच पाने की कम सम्भावना रहती है। शोध-कार्य के लिए उपयुक्त विषय चुनते समय भी हमें यह देख लेना चाहिए कि उसका वास्तविक क्षेत्र कितना विस्तृत हो सकता है। यदि हो सके तो, उसके द्वारा किसी ऐसी समस्या की ओर संकेत भी कर देना चाहिए जिसके सुलझाने पर ही शोधार्थी की वास्तविक योग्यता निर्भर होगी।

शोध-कार्य की व्यवस्था यदि किसी एक पृथक् विभाग के तत्वावधान में की जाय, उसके लिए पर्याप्त साधनों का आयोजन किया जाय तथा शोधार्थी को ऐसी सुविधाएँ दी जा सकें जिनसे सहायता पाकर वह एकान्तनिष्ट बनकर काम कर सके तथा आवश्यक हस्तलेखादि और सन्दर्भ- ग्रंथों के लिए अन्य स्थलों के साथ भी संपर्क स्थापित कर लिया जाय तो अधिक अच्छा होगा। प्रायः देखा जाता है कि किसी विश्व-विद्यालय का शोधार्थी कभी किसी ऐसे विषय को ले लेता है जिस पर

अन्य विश्वविद्यालय में या तो पहले से काम हो चुका रहता है अथवा होता रहा करता है और कुछ दिनों तक उसके लिख पढ़ लेने पर इस बात का पता चल पाता है। हो सकता है कि किसी एक ही विषय पर काम करने वालों का दृष्टिकोण कुछ न कुछ भिन्न हो अथवा यह भी सम्भव है कि जिन साधनों का उपयोग एक व्यक्ति कर सकता है वह दूसरे की पहुँच के बाहर हो और इस प्रकार दोनों द्वारा उपलब्ध परिणाम एक न हो सकें। फिर भी यह कहीं अधिक अच्छा होगा कि ऐसी दशा में भी कभी काम करने के लिए प्रोत्साहन न दिया जाय। सभी विश्व-विद्यालय अथवा शोधपीठ अपने-अपने स्वीकृत विषयों की सूची प्रकाशित कर उससे एक दूसरे को अवगत किया करें और यदि इस प्रकार की समस्या आ पड़े तो एक अपने यहाँ का कार्य बन्द करके दूसरे के लिए अपनी सामग्री प्रस्तुत कर दें। शोध-कार्य का परिणाम यदि मौलिकता से रहित हो तो वह कभी एक 'देन' की संज्ञा नहीं प्राप्त कर सकता और ऐसी मौलिकता बहुत दुर्लभ हुआ करती है। अतएव, जिस प्रबन्ध के आधार पर उपाधि का वितरण किया जा चुका हो उसे भी प्रकाशित करने में शीघ्रता नहीं करनी चाहिए। उसे एक दो बार फिर से देखभाल करके तथा किसी योग्य व्यक्ति द्वारा उसके लिए कोई 'भूमिका' लिखाकर ऐसा किया जाय तो ठीक हो सकता है।

मराठी भाषा एवं साहित्य के शोध-कार्य में प्राचीन महत्वपूर्ण ग्रंथों के सम्पादन को भी विशेष स्थान दिया जाता है। इसके द्वारा एक तो कोई न कोई बहुमूल्य ग्रंथ हमारे सामने वैज्ञानिक ढंग से सम्पादित होकर आ जाता है और दूसरे उसके आधार पर कोई व्यक्ति उपाधि भी पा लेता है। हिन्दी के अनेक प्राचीन ग्रंथ अभी तक हस्तलेखों के ही रूप में पड़े हैं और उनके प्रकाश में न आ सकने के कारण उनके विषय में प्रायः बहुत भ्रम भी फैलता रहता है। इसके सिवाय हिन्दी की अनेक लोकप्रिय एवं महत्वपूर्ण रचनाओं का भी अभी तक हम वास्तविक पाठ निर्धारित

नहीं कर सके हैं जो ठीक नहीं। इसलिए, यदि ग्रंथ-सम्पादन-सम्बंधी शोध-कार्य की इस परंपरा को समुचित प्रोत्साहन दिया जा सके तो बहुत काम हो सकेगा। हिन्दी के शोध-कार्य में कहीं-कहीं इसे आजकल सम्मिलित अवश्य किया गया है, किन्तु इसकी ओर जितना ध्यान देना चाहिए उतना नहीं दिया जा रहा है। कई निबन्धों का रूप तो किसी कवि अथवा लेखक की कृतियों के लिए एक वृहत् प्रस्तावना जैसा बन जाता है जिस दशा में उनके मूल पाठों का अभाव हमें और भी खटकता है।

शोध-कार्य के साथ ही एक अन्य भी ऐसा ही आवश्यक विषय है जिसकी समस्याओं पर हमें गम्भीरता के साथ विचार करना चाहिए। हिन्दी में अभी तक हम अपनी आलोचना वा समीक्षा-पद्धति को भी कोई सुव्यवस्थित रूप नहीं दे सके हैं। जहाँ तक पता है, पहले हमारा ध्यान स्वभावतः अपने प्राचीन आलोचना-सिद्धांतों की ओर जाता रहा और हम प्रायः उन्हीं से सन्तोष कर लेते रहे। पीछे जब से हम पाश्चात्य आलोचना-प्रणाली से अधिकाधिक परिचित होते गए हमने उधर की ओर भी अपनी दृष्टि डाली। परन्तु, वहाँ पर भी कभी-कभी उधार के प्राचीन ग्रंथकारों को ही महत्व देते देखकर हमारे सामने दोनों पद्धतियों के सामंजस्य की एक पृथक् समस्या भी आ गई और ऐसी दशा में हम कुछ निश्चित रूप से निर्धारित नहीं कर सके। इस सम्बंध में हमें विशेष कठिनाइयों का अनुभव तब होने लगा जब हमें यह भी दीख पड़ा कि काव्य एवं साहित्य-रचना की जो नई प्रवृत्तियाँ आज हमारे सामने दीख रही हैं उन सभी का ठीक मेल उन प्राचीन प्रचलित सिद्धान्तों के साथ नहीं खाता। अतएव, कभी-कभी तो हम अपनी वर्तमान सुन्दर कृतियों तक को भी उन पुराने मानदण्डों के अनुसार जाँच कर सहसा निकृष्ट ठहराने लग गए अथवा कभी-कभी नवीनता के फेर में पड़ कर उन्हें उनके वस्तुतः साधारण रहते हुए भी उत्कृष्ट बतलाने लग गए। स्पष्ट है कि यह सभी कुछ केवल हमारे पूर्वग्रह के ही कारण हुआ, चाहे वह प्राचीनता के प्रति

रहा अथवा नवीनता के लिए था। हम ऐसी खींचातानी की स्थिति में समुचित निर्णय नहीं कर पाये जो विचारणीय है।

इस सम्बंध में विचार करते समय यह प्रश्न भी सहसा उठ सकता है कि जिन सिद्धान्तों का पहले प्रचार हो चुका है और जिन्हें अभी कुछ दिनों तक हम अपने लिए अन्तिम 'वाक्य' जैसा भी समझते आए हैं, क्या वे वास्तव में शाश्वत कहे जा सकते हैं ? क्या उनमें कभी सुधार नहीं किया जा सकता अथवा क्या स्वयं उनकी ही आलोचना कभी बीच-बीच में नहीं होती आई है ? सबसे बड़ी बात तो यह है कि क्या किसी कवि वा लेखक को अपनी रचना प्रस्तुत करते समय सदा इस बात की ओर भी ध्यान दिये रहना चाहिए कि हम कहाँ तक किसी प्राचीन आचार्य अथवा नवीन मत-प्रवर्तक के सिद्धान्तों का अनुगमन कर रहे हैं ? क्या कभी पहले भी मूल रचनाओं का अध्ययन और मनन कर लेने पर ही, सिद्धान्त बनाये गए होंगे अथवा ऐसे सिद्धान्तों का सदा से अनुसरण ही होता आया है ? इसके सिवाय हमारे सामने बराबर ऐसे प्रश्नों का उठना भी स्वाभाविक है कि वास्तव में, काव्य वा सत्साहित्य क्या वस्तु है ? क्या वह ठीक उतनी ही परिधि के भीतर सीमित किया जा सकता है अथवा उसे ठीक वही रूप दिया जा सकता है जिसे पहले के आचार्यों ने निश्चित कर रखा है अथवा जो किसी मत-प्रवर्तक विशेष के सिद्धान्तानुसार स्थिर किया जा सकता है ? ऐसे अनेक अन्य प्रश्न भी प्रसंगवश उठाये जा सकते हैं जिन पर पूरा विचार होना चाहिए।

इस सम्बंध में यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि सौभाग्यवश हमारे कुछ विद्वानों का ध्यान आजकल प्राचीन काल के प्रसिद्ध आचार्यों द्वारा लिखित प्रामाणिक ग्रंथों के प्रकाशन की ओर भी गया है। ऐसे ग्रंथों के सुन्दर संस्करण, चाहे वे भारतीय आचार्यों की कृति हों अथवा पाश्चात्य विद्वानों द्वारा ही लिखे गए हों, निकलते जा रहे हैं। हमारे लिए यह बहुत अच्छा अवसर है कि हम उनका मनोयोगपूर्वक अध्ययन करें और

इस प्रकार उन महान पुरुषों के विषय में भी ठीक धारणा बना लें। हो सकता है कि उन्हें उचित ढंग से न पढ़ पाने अथवा ठीक प्रकार से न समझ पाने के कारण ही हम कभी-कभी किसी भ्रम में पड़ जाते हों अथवा पीछे से उन पर की गई विविध टीकाओं के मतवादों में पड़ कर उन पर अपनी कोई निश्चित धारणा नहीं बना पाते हों। इसके सिवाय हमारे लिए यह भी आवश्यक है कि जिस कृति की हम आलोचना करने चलें उसके वास्तविक महत्व को पहले स्वभावतः परख लेने का यत्न करें। यह मानकर न चला करें कि जो कुछ और जैसा कहा जा चुका है उसके आगे अब कुछ भी नहीं हो सकता अथवा साहित्य में विकास को कोई स्थान नहीं है। इस सम्बंध में हमारे लिए यह भी आवश्यक जान पड़ता है कि अन्य विविध साहित्यों का भी अध्ययन करें तथा भरसक उन मानदंडों पर भी एक बार दृष्टि डालें जो उनके लिए बनाये गए होंगे। समालोचना अथवा समीक्षा का जो भी अंग हो, चाहे वह केवल साधारण पर्यवेक्षण मात्र से सम्बंध रखता हो, चाहे गम्भीर विवेचना हो, चाहे मूल्यांकन हो अथवा तुलनात्मक आलोचना के आधार पर किया गया मत-प्रकाशन मात्र ही हो, सर्वत्र हमें किसी सर्वथा निष्पक्ष व्यक्ति के रूप में विचार करना चाहिए और पूर्णरूप से उदारचेता बन कर ही उसे प्रकट भी करना चाहिए। सम्भव है कि ऐसे निर्णय में समालोचक की योग्यता अथवा उसकी मनोवृत्ति के अनुसार कोई अन्तर भी आ पड़े, किन्तु उसके सच्चा होने में वैसा सन्देह नहीं रह जाता।

इस सम्बंध में हमने अभी तक अधिकतर प्राचीन एवं मध्यकालीन साहित्यों को ही ध्यान में रखकर काम किया है। हमने अभी तक उन क्षेत्रीय भाषाओं के साहित्यों तक पर भी पूरा ध्यान नहीं दिया है जिन पर यद्यपि संस्कृत के प्राचीन आचार्यों का बहुत कुछ प्रभाव है, किन्तु फिर भी जिनमें अपनी ऐसी कतिपय विशेषताएँ भी हैं जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती और जिन पर, इस ओर व्यापक ढंग से विचार करते समय,

हमारा दृष्टि डाल लेना अपना एक बहुत बड़ा कर्तव्य है। क्षेत्रीय भाषाओं के साहित्यों और विशेष कर दक्षिण भारत में निर्मित किये गए ग्रंथों का तुलनात्मक अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए भी शोध-कार्य की भाँति कोई पृथक् विभाग ही बना लेना चाहिए और आलोचना-सम्बंधी सारे आवश्यक प्रश्नों का गम्भीर मनन और चिन्तन कर इसके लिए सुनिश्चित मार्ग-निर्देशन की अच्छी व्यवस्था कर देनी चाहिए। समय-समय पर विद्वतापूर्ण भाषणों के लिए प्रबन्ध करना, अच्छी पत्रिकाओं का प्रकाशन करना तथा जटिल समस्याओं का समुचित निराकरण करने के लिए कभी-कभी विचार-विनिमय का भी आयोजन करना इस ओर पूरी सहायता पहुँचा सकता है। हिन्दी की लिपि एवं वर्तनी सम्बंधी समस्याओं का हल भी, इसी प्रकार किया जा सकता है। सभी योग्य व्यक्तियों के सहयोग द्वारा उस लांछन को भी दूर किया जा सकता है जो 'हिन्दी में अराजकता' कहलाकर प्रसिद्ध है और जिसकी ओर हिन्दी के स्वेच्छा विरोधियों द्वारा प्रायः अंगुलि-निर्देश भी किया जाता है।

मैंने अभी तक आपके सामने केवल उन दो-एक प्रश्नों को ही छेड़ा है जिनकी ओर भारतीय हिन्दी परिषद् को एक उच्च स्तरीय साहित्यिक संस्था होने के नाते सदैव उन्मुख रहना चाहिए तथा जिनको सुलझाने के लिए उसे बराबर यत्नशील भी होना चाहिए। ऐसे प्रश्नों की संख्या कम नहीं है और उनके विषय में कभी किन्हीं साहित्य-गोष्ठियों में भी विस्तृत रूप में भी चर्चा की जा सकती है। परिषद् के सामने इनके अतिरिक्त कतिपय ऐसी भी समस्याएँ आया करती हैं जिनका सम्बंध विशेषतः विश्वविद्यालयों में होने वाले अध्ययन और अध्यापन के कार्यों के साथ प्रत्यक्ष रूप में दीख पड़ता है। इनमें से एक की चर्चा प्रायः पाठ्यक्रम एवं तत्सम्बंधी ग्रंथों के चुनाव को लेकर की जाती है और यह बतलाया जाता है कि यदि इस विषय में सर्वत्र एकरूपता लाने की ओर

ध्यान न दिया जाय तो, सम्भव है, एक सामान उपाधिधारी हिन्दी विद्वानों की योग्यता में कुछ न कुछ अन्तर आ जाय। इसके सिवाय इस सम्बंध में यह भी कठिनाई आ सकती है कि यदि कोई एक विद्यार्थी किसी विश्वविद्यालय का परित्याग कर बीच में किसी दूसरे में अध्ययन करना चाहे तो पाठ्यक्रम की कुव्यवस्था के कारण उसे असुविधा का भी अनुभव हो सकता है। यही बात विश्वविद्यालयों की ओर से तैयार किये जाने वाले परीक्षा-सम्बंधी प्रश्न-पत्रों के विषय में भी कही जा सकती है। वास्तव में ऐसे प्रश्नों पर बराबर व्यावहारिक दृष्टि से ही विचार होना चाहिए और हिन्दी की व्यापकता एवं देश की एकता पर सदा ध्यान रखना चाहिए।

परन्तु जहाँ इस प्रकार की एकरूपता को बनाने तथा उसे स्थिर रखने का प्रश्न आता है, वहाँ पर यह भी स्मरण में आये बिना नहीं रहता कि इन संस्थाओं को अधिकतर इस बात की ओर भी ध्यान देना चाहिए कि क्या हम हिन्दी की भाषा एवं उसके साहित्य के विकास और समृद्धि के लिए अपनी ओर से कोई विशेष यत्न भी कर सकते हैं। इससे मेरा तात्पर्य विशेष कर उन विशिष्ट क्षेत्रों में दूसरों से अधिक यत्नशील होने से है जिनके लिए किसी शिक्षा-केन्द्र के निकट अधिक सुविधाएँ उपलब्ध हों तथा इसी कारण, जहाँ पर अन्यत्र से कहीं अधिक सफलता मिलने की आशा की जा सकती हो। यदि किसी एक संस्था में शोध-कार्य की व्यवस्था अधिक अच्छी है अथवा आलोचना-सम्बंधी अध्ययन और अनुशीलन के लिए समुचित प्रबन्ध है वहाँ इस ओर विशेषज्ञता प्राप्त करने में उतनी बाधा नहीं पड़ सकती और एक विशिष्ट वातावरण में कार्य करने वाले को पूरा प्रोत्साहन भी मिलता है। इसी प्रकार विश्वविद्यालयों का कार्य-विभाजन एम० ए० आदि की कुछ डिग्रियों के विषय की दृष्टि से भी किया जा सकता है। ये विश्वविद्यालय यदि चाहें तो समय-समय पर अपने योग्य अध्यापकों को देकर विशिष्ट भाषण

दिलवा सकते हैं तथा अपने पुस्तकालयों में उपलब्ध विशिष्ट ग्रंथों अथवा हस्तलेखों का आदान-प्रदान भी कर सकते हैं। ऐसे कार्यों द्वारा न केवल अध्यापन-कार्य में ही सुव्यवस्था आती है, प्रत्युत आपस में सौहार्द, सद्भावना एवं सहयोगदान का अभ्यास भी बढ़ता है। इस प्रकार हम अपने कर्तव्य का पालन एक ऐसे ढंग से कर लेते हैं जिससे अपने सभी का हित हो जाता है।

परिषद् के सामने आजकल कुछ ऐसी भी समस्याएँ दीखती हैं जिनका सम्बंध हिन्दी के हितों की रक्षा से है तथा जिन पर साहित्य के अध्ययन-अध्यापन अथवा उसकी समृद्धि के लिए योगदान देने की दृष्टि से भी विचार करना उतना आवश्यक नहीं है। इनमें से एक तो अहिन्दी भाषियों द्वारा प्रायः किये जाने वाले विरोध से सम्बद्ध है और दूसरी का सम्बंध उर्दू की ओर से हिन्दी के प्रति प्रदर्शित की जाने वाली उस प्रतिस्पर्धा की भावना से है जिसके कारण कभी-कभी आपस में विरोध-भाव तक लक्षित होने लगता है। जहाँ तक पहले प्रश्न की बात है, उसे अधिक प्रोत्साहन देने वाले ऐसे ही लोग हैं जिनके भीतर या तो राजनीतिक भावनाएँ काम करती हैं अथवा जिन्हें अपनी क्षेत्रीय भाषा के प्रति स्वाभाविक गर्व होने के कारण, उसकी हिन्दी के सामने प्रतीत होने वाली हीनता की भावना प्रायः क्षुब्ध कर देती है और जो, वास्तविक स्थिति के विरुद्ध कुछ कर न पाने की दशा में, अधिकतर विष-वमन करके ही अपना क्रोध मिटाते हैं। इनमें से पहले का रूप कभी प्रान्तीयता के भाव का भी हो जाता है तो दूसरा प्रायः साम्प्रदायिकता के भावों द्वारा विशेष कलुषित बन जाता है। हिन्दी भाषा-भाषियों को ये दोनों ही अपने से सर्वथा पृथक् अथवा पराया तक भी समझने लग जाते हैं। ये उन पर विश्वास नहीं करते। ये कभी-कभी हिन्दी के अपने ऊपर बलात् लादी जाने की भी चर्चा करते हैं जो केवल इनके उदारता के साथ न सोचने के ही कारण हो सकता है। इस प्रकार के सारे अभि-

रोगों का निराकरण पूर्णरूप से तब तक सम्भव नहीं, जब तक हम सभी में एकता का भाव न आ जाय और जब तक हम यह भी न समझने लग जायँ कि हिन्दी के लिए जो भी कुछ किया गया है वह भारतीयों द्वारा सामान्य भारतीय हितों को दृष्टि में रखकर किया गया है तथा वह, इसी प्रकार, ठोस तथ्यों पर आधारित भी है। इसके सिवाय ऐसे विरोध भावों को बहुत कुछ कुंठित कर देने का यत्न इस ढंग से भी किया जा सकता है कि हिन्दी-भाषी उन भाषाओं तथा उनके साहित्यों का अध्ययन और अनुशीलन तुलनात्मक ढंग से करने लग जायँ और उनके साथ हिन्दी के आदान-प्रदान पर भी विशेष बल देने लगें।

हमें भारत का एक महान् उन्नत राष्ट्र के रूप में पुनर्निर्माण करना है और इसके लिए हमें चाहिए की जो भी प्रश्न हमारे सामने आये उन पर विचार करते समय पूरी उदारता और सहृदयता से काम लें। अपने आदर्श को हमें सदा बहुत ऊँचा बनाये रखना है। इस प्रकार कार्य करना है जिससे अपने उद्देश्य की सिद्धि में अधिक बाधा न पड़ने पावे। हमें ऐसा करते समय अपने अनेक स्वार्थों का बलिदान करना पड़ सकता है और कभी-कभी निराशा द्वारा अभिभूत भी होना पड़ सकता है, किन्तु इसके कारण हमारे उत्साह में कोई कमी न आनी चाहिए। हिन्दी भाषा एवं साहित्य के विकास एवं उन्नति के प्रश्नों पर हमें आज अखिल भारतीय दृष्टिकोण से ही विचार करना है और उन्हें सद्भावना के साथ सुलझाना है। उन्हें केवल साधारण प्रकार से चलता कर देने से ही हमारा काम नहीं चल सकता। हिन्दी यदि आज हमारी राजभाषा कही जा रही है और कल अपनी पूर्ण राष्ट्रभाषा का रूप धारण कर लेने का दम भरती है तो इसे उसके सर्वथा उपयुक्त हो जाने का भी यत्न करना चाहिए। जिन बातों के लिए इसका आज देश के भीतर विरोध होता दीख रहा है उनके मूल कारणों द्वारा आवश्यकता से अधिक आशंकित न होकर इसे अपने वास्तविक कार्तव्य के समुचित पालन

की ओर ध्यान देना चाहिए। हमें इस बात का भी दृढ़ विश्वास रहना चाहिए कि यदि हम इसे अपने पथ से विचलित नहीं होने देते हैं और इसके आगे बढ़ते समय अपना पूरा हाथ भी बँटाते हैं तो, इसमें सन्देह नहीं कि यह एक दिन न केवल अपने ही यहाँ भली-भाँति स्वीकृत और समादृत हो जायेगी, अपितु विश्व के अधिक व्यापक क्षेत्र में भी इसे कम से कम वैसा ही सम्मान प्राप्त हो सकेगा, जैसा अन्य किसी का भी हो सकता है।

अन्त में इसीलिए, मुझे केवल इतना ही निवेदन करना है कि भारतीय हिन्दी परिषद् को एक साहित्यिक संस्था होने के नाते, अपने कार्य-भार की इयत्ता को को भली-भाँति हृदयंगम कर लेना चाहिए। तदनुसार यथाशक्ति यत्न करते हुए इस महान् देश की सर्वांगीण उन्नति में यथोचित सहयोग प्रदान करने का श्रेय भी अर्जित करना चाहिए।



१७. स्वागत भाषण*

बलिया हिन्दी प्रचारिणी सभा की ओर से आप महानुभावों का मैं हृदय से स्वागत करता हूँ। स्वागत-कार्य बड़ा पुनीत और दुर्लभ होता है और हमारे यहाँ अतिथि सत्कार को इसीलिए देव-पूजा से भी बढ़कर माना है। 'सर्वदेवमयोऽतिथिः' वाक्य वास्तव में बहुत उचित जान पड़ता है, क्योंकि अतिथि के स्वागत के समय और उसकी सेवा के अवसर पर जिन सात्विक भावों का उदय होता है वे सांसारिक मनुष्य के जीवन में बड़े भाग्य से ही कभी उठ सकते हैं। कौन-सा ऐसा कार्य है जिसमें प्रेम, आत्म-त्याग तथा आशा और विश्वास के शुद्ध भावों का एक ही साथ विकसित होना दिखलायी पड़ता हो और जिसमें तन्मय होने के कारण स्वभावतः रोमांचित हो उठता हो? और जब अतिथि स्वागत के सम्बंध में यह बात सत्य है तो अनेक झंझटों के रहते हुए भी हमारे निमंत्रण को स्वीकार करके यहाँ पधारने तथा हमारे प्रचार-कार्य में हाथ बँटाने और उत्साह देने की कृपा करने वाले आप लोगों के स्वागत के विषय में फिर क्या कहना है? आपके स्वागत से सभा अपने को धन्य समझती है और आशा करती है कि इसके उद्देश्य तथा कार्य के महत्व को ध्यान में रखते हुए आप इसके पूर्ण सहायक बनेंगे। हिन्दी प्रचारिणी-सभा अभी केवल तीन वर्षों की बालिका है, किन्तु अपने जन्म-स्थान, अपनी परिस्थिति तथा अपने उज्वल भविष्य के गौरव में इसे पूर्ण विश्वास है। हिन्दी की प्रत्येक प्रकार की उन्नति करना इसका अभीष्ट है

---

* संवत् १९८२ में स्वागताध्यक्ष पद से दिया गया भाषण

और यह उसके लिए उत्तम भी है। यह संस्था उत्साहित होते रहने पर अपने पूर्व गौरव को प्राप्त करने और उसे बढ़ाने में बहुत कुछ सहायक हो सकती है।

सभा का जन्म जिस क्षेत्र में हुआ है वह कभी बहुत पवित्र स्थान था। कहते हैं कि किसी समय यह ऋषियों-महर्षियों की तपोभूमि थी। 'वाराह पुराण' के अनुसार जिस समय सोम ने धर्म की भावज तारा को बलात्कार द्वारा ग्रहण करने की इच्छा की और वह सबको पीड़ित करने लगा तो धर्म उससे भयभीत होकर एक विस्तीर्ण घने वन में चले गए और ब्रह्मा ने उनके यहाँ बहुत दिनों तक ठहरने के कारण वन का नाम धर्मारण्य रख दिया।

सधर्मः पीड़ितः सर्व सोमेनाद्भुत कर्मणा,
तारां जिघृक्षता पत्नी भ्रातुराङ्गिरसस्थ च।
सोप्ययाद्भीपितः तेन वलिवा क्रूरदर्पणा,
अरण्यं गहनं घोरं प्रविवेश महाप्रभुः॥

ब्रह्मोवाच—

यच्चारण्यं मिदं धर्म त्वया व्याप्ताचिरंविभो,
नाम्ना भविष्यति ख्येनद्धर्मारण्य मितिप्रभो॥ वाराह पुराणम्

इस धर्मारण्य के विषय में बहुत खोज-पूछ कर चुकने पर Dictionary of Ancient and Mediaval Geography of India के रचयिता स्वर्गीय बाबू नन्दलाल डे इस परिणाम तक पहुँचे हैं कि वह कन्नौज और मगध के बीच स्थित प्राचीन मध्यप्रदेश के पूर्वीय भाग में वर्तमान था। फिर 'पद्मपुराण' के कथानुसार भृगु ऋषि ने जब विष्णु भगवान की छाती पर लात मारा और पातक के कारण उनकी पीठ पर मृग-चर्म चिपक गया तो उसे छुड़ाने के लिए वे कई तीर्थ-स्थानों पर घूमते फिरे, परन्तु वह कहीं नहीं गिरा। अन्त में धर्मारण्य में ही वह

गंगा-तट स्थित एक स्थान पर पहुँचे, जहाँ वह आपसे आप गिर पड़ा। भृगु ऋषि वहीं ठहर गए और अपने शिष्य दर्दर मुनि की सहायता से वहाँ एक बृहत् यज्ञ करने का प्रबन्ध किया। इस अवसर पर उन्होंने बहुत से बड़े-बड़े तपस्वियों को निमंत्रित किया। दर्दर मुनि के सरयू नदी को काट कर लाने और गंगा में संगम करा चुकने पर कार्तिक की पूर्णिमा को यज्ञ समाप्त किया। कहते हैं कि निमंत्रण में आये हुए ऋषियों को यह स्थान इतना जँचा कि वहाँ बहुत दिनों तक वे ठहर गए। इनमें से पराशर, गर्ग, भरद्वाज, वाल्मीकि तथा परशुराम के स्थानों को ही आजकल परसिया, गजरी, भेलराएड, बलिया तथा मनियर कहते हैं। लोगों का कहना है कि सम्भवतः भृगु जी के यज्ञ-कुण्ड के स्थान पर ही कुछ काल के अनन्तर किसी ने धर्मारण्य का पोखरा नामक तालाब खुदवा दिया था। यह पोखरा अभी १९१७ की बाढ़ के समय गिरा है। यदि ऐसी ही एक और कथा का आश्रय लें तो जान पड़ता है कि मार्कण्डेय पुराण में वर्णित महाराजा सुरथ तथा समाधि नामक वैश्य की बातचीत इसी क्षेत्र वाले जंगल में हुई थी। महाराजा सुरथ कौशल प्रदेश के राजा थे जिनका राज्य यहाँ पर बहुत दिनों तक रहा। उन्होंने कदाचित् वह तालाब खुदवाया था जो अब सुरहा नामक झील बना हुआ है और कटहर नाला उसे नहर के रूप में छोटी सरयू में मिलाता है। अनुमानतः शंकरपुर की भवानी उनके द्वारा स्थापित हुई थीं और ब्रह्माइन की भवानी उक्त वैश्य द्वारा। परन्तु इन बातों का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं पाया जा सका है।

इस स्थान के एक मनोरंजक वन प्रान्तर होने का पता हमें सोलहवीं शताब्दी में आये हुए बाबर के आत्म-चरित से भी चलता है। उसने स्पष्ट रूप से लिखा है कि यहाँ के जंगलों में मैंने हाथी, गैंडे, सिंह तथा जंगली भैंसों का शिकार किया है। एक दिन वह आधी रात को मशाल के सहारे नावों पर बैठकर सरयू में मछली मारने गया था और वहाँ

मगर के डर से भागती हुई एक बड़ी मछली उछलकर उसके नाव पर चढ़ आई। इसके एक वर्ष पहले उसने बक्सर के सामने गंगा की तीव्र धारा को तैर कर पार किया था। यहाँ के हिन्दुओं को उसने अन्ध-विश्वासी लिखा है।

तब से बलिया क्षेत्र का बाहरी रूप अब बहुत बदल गया है और इसमें तथा अन्य साधारण प्रान्तों में कोई विशेष अन्तर नहीं रह गया है। अन्यान्य स्थानों से आकर भिन्न-भिन्न समाज के लोगों ने यहाँ पर अपना प्रभुत्व जमा लिया है और प्राचीन जातियों के नष्ट हो जाने के साथ ही यहाँ पुरानी परिस्थिति में भी बड़ा अन्तर आ गया है। परन्तु स्थान विशेष का भी कोई महत्त्व हुआ करता है और विभिन्न परिस्थितियों में पले हुए भिन्न-भिन्न समाजों में भी कोई न कोई विशेषता हुआ करती है। बलिया क्षेत्र के निवासियों की यदि कोई विशेषता है तो वह यह कि वे किसी काम को अपने हाथ में लेते समय बड़ा आलस्य दिखलाते हैं, यहाँ तक कि ऐसी दशा में उनकी तटस्थता तक प्रकट होने लगती है। किन्तु एक बार निश्चय कर लेने के उपरान्त वे उससे कभी मुँह नहीं मोड़ते और उसे सिद्ध करके छोड़ते हैं। आलस्य उनकी प्राचीनता का द्योतक है और अपने निश्चय की दृढ़ता उनकी सच्चरित्रता का परिचायक है।

हिन्दी जिसके प्रचार का भार हमारी सभा ने लिया है वह वही भाषा है जिसका प्रसार उत्तरी भारत की सभी प्रान्तीय भाषाओं से कहीं अधिक व्यापक है। सच पूछिये तो वह भारतवर्ष की एक भाषा है, क्योंकि दक्षिणी भारत भी जहाँ इसकी और बहनों की पहुँच तक नहीं, इसे बहुत कुछ समझता है। हिन्दी भाषा का साहित्य भी बहुत पहले से ही प्रौढ़ तथा महत्त्वपूर्ण रहा है। इसके पुराने कवि चन्दबरदायी के समय अर्थात् बारहवीं शताब्दी तक उपर्युक्त प्रान्तीय भाषाओं में से किसी में स्पष्ट रूप में साहित्यिक चर्चा तक नहीं छिड़ी थी और इनके कवि अभी

अनुवाद करने अथवा दोहरे बनाने में ही लगे हुए थे। बँगला कवि रामाई पंडित का 'शून्य पुराण' साहित्यिक दृष्टि से पृथ्वीराज रासो के सामने नहीं के बराबर है। हिन्दी साहित्य के इतिहास को ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि इसका विकास किसी उस पहाड़ी नदी अथवा स्रोतस्विनी के प्रवाह की भाँति हुआ है जिसकी भिन्न-भिन्न धाराएँ विभिन्न परिस्थितियों के सहारे अधिक या कम वेग पकड़ती रहती हों। हिन्दी साहित्य के आदिकाल अर्थात् आठवीं ईसवी शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश से लेकर चौदहवीं के प्रथमार्द्ध भाग तक इसमें ऐतिहासिक विषयों का ही आधिक्य है। साहित्यिक ग्रंथ, पौराणिक विषयों के अनुवाद तथा प्रेम-कथाओं का कोई विशेष बल नहीं। यह समय वास्तव में वैतालिक युग कहलाने योग्य है।

इसके उपरान्त सन् १०५० के लगभग बाबा गोरखनाथ के समय से लेकर सन् १६०० तक ऐतिहासिक शक्ति दबी रहती है और धार्मिक विषयों का बल बढ़ता है। इसमें न तो प्रेम-सम्बंधी अथवा पौराणिक और ऐतिहासिक विषयों का ही प्रभाव है और न नीति विषयक या साहित्यिक सम्बंधी बातों का। कबीर, नानक, सूर, मीराँ, तुलसी तथा जायसी ने वह भक्ति तथा आध्यात्मिक तन्मयता के भाव दिखलाये हैं जिसका जोड़ संसार के किसी साहित्य में ढूढ़ने पर भी मिलना कठिन है। सन् १६०० से लेकर १८०० तक फिर साहित्य की धूम रहती है जिसे देखिये वह रीति, अलंकार, छन्द अथवा रस आदि के ही पीछे पड़ा है। यहाँ तक कि एकाध भक्त कवि तक अपनी पुस्तकों में नायक-नायिका के रंग दिखलाते हैं। साहित्यिक ग्रंथों के निर्माण में हिन्दी के कवि आज तक बेजोड़ रहे हैं और किसी भी प्रान्तीय साहित्य में केशव, जसवंत, बिहारी, भूषण, मतिराम, देव, श्रीपति, दास अथवा कुलपति के टक्कर के आचार्य मिलना असम्भव-प्राय: है। इस समय में धार्मिक धारा की ऐतिहासिक अथवा प्रेम, नीति एवं पुराण सम्बंधी धाराओं

से कुछ विशेष बलवती अवश्य रही, परन्तु कुछ दबे ढंग से। सन् १८०० से १८५० तक साहित्य तथा पुराण सम्बंधी विषयों का लगभग एक ही समान बल रहता है और अन्य विषय बहुत नीचे चले जाते हैं। फिर सन् १८५० से आज तक के इतिहास देखने से पता चलता है कि इसमें व्यापक स्वदेश-प्रेम का सूत्रपात हुआ है और अपने प्राचीन गौरव को स्मरण करके तथा उससे अपनी हीनावस्था की तुलना करके हिन्दी कवियों ने रोना तथा सुधार की पुकार मचाना आरम्भ किया है। बाबू हरिश्चन्द्र, प्रताप नारायण मिश्र, बदरी नारायण चौधरी से लेकर मैथिली शरण गुप्त, सनेही, माधव प्रसाद शुक्ल, लोचन प्रसाद पाण्डे आदि इधर के कई कवियों तक से यही राग विशेष रूप से सुनने में आता है। उद्बोधन के शब्द अथवा मार्मिक वेदना उत्पन्न करके उभाड़ने वाले वाक्य कम मिलते हैं। एक भारतीय आत्मा बाद के कवि अवश्य हैं जिसे होड़ के युद्ध में कड़खे जाने वाला तथा उज्वल भविष्य में पूर्ण विश्वास रखने वाला ओजवर्द्धक राष्ट्रीय कवि कह सकते हैं। इसके अधिकतर पद्य जीवनमय हैं। स्वदेश-प्रेम की धारा के वेग को धार्मिक अथवा साहित्यिक वा ऐतिहासिक कोई नहीं पा सकती है। कई एक तो एक दम लुप्तप्रायः कही जा सकती हैं। धार्मिक धारा नाथूराम शंकर शर्मा तक को पाकर शिथिल हो गई। स्वदेश-प्रेम वा राष्ट्रीयता के सिवाय दूसरा भाव जो अधिक बलवान जान पड़ता है वह एक अनोखा भाव है जिसे अभी तक कदाचित् एकाध ही हिन्दी कवि समझ सके होंगे। उस भाव को लोग छायावाद अथवा रहस्यवाद का भाव कहते हैं जो अशुद्ध नामकरण है जिसे मुकुटधर पाण्डे ने चलाया है। हिन्दी में इसके लिए अभी कोई उपयुक्त शब्द नहीं मिल सका है। इस प्रकार के भाव कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अनुकरण में प्रकट हुए थे और इन्हें हिन्दी के साथ-साथ मराठी तथा गुजराती आदि के बहुत-से कवियों ने भी अपनाया था। परन्तु रवीन्द्र की रहस्यमयी ऊँची उड़ान तक कोई नहीं जा सका और खेल बीच में ही बिगड़ गया। आजकल के भाव, वास्तव में, अनोखे हैं, क्योंकि

उनकी समता रवीन्द्र के यहाँ भी नहीं है। इस प्रकार के भावों वाले कवियों में जयशंकर प्रसाद, महादेवी वर्मा, सुमित्रा नंदन पन्त, निराला, नवीन आदि कई कवि हैं। विशुद्ध काव्य जो इन सभी भावों से परे है और जिसका अभी केवल बीजारोपण तक ही हुआ है, देखने में कम आता है। विशुद्ध काव्य से मेरा अभिप्राय उस काव्य से है जो किसी विषय-विशेष या भाव-विशेष पर ही नहीं निर्भर है और जो इसी कारण केवल कवि की किसी अलौकिक शक्ति अथवा प्रतिभा पर ही अधिक आश्रित है। हिन्दी की काव्य साहित्य की धाराओं में कुछ दिनों से अभी शिथिलता है। उनका वेग क्या बंगला, क्या मराठी तथा उर्दू से भी कम है। हमारी सभा का एक यह भी उद्देश्य है कि वह नये जीवन का संचार करे और अपने यत्नों द्वारा पहले जैसे गौरव का आविर्भाव करे।

हिन्दी प्रचारिणी सभा उपर्युक्त हिन्दी साहित्य के प्रचार तथा निर्माण दोनों के लिए पूर्ण यत्न कर सकती है। वह कवि तथा लेखकों को उनकी पुस्तकों को प्रकाशित कराकर तथा उन्हें पुरस्कारादि प्रदान कर प्रोत्साहित कर सकती है। वह कवि सम्मेलन, साहित्य-चर्चा गोष्ठी तथा अन्य उपयोगी उप-संस्थाओं को खोलकर तथा अपने प्रान्त की साहित्योन्नति के लिए समय-समय पर लेख तथा पुस्तकें लिखवाकर आदर्श की ओर अग्रसर करा सकती है। परन्तु इसके सिवाय उसका काम हिन्दी भाषा के प्रचार करने का भी है। चिट्ठी-पत्री, बहीखाते आदि में हिन्दी का प्रयोग कराना, अच्छी लिपि लिखने वालों को पुरस्कृत करना, अच्छे-अच्छे व्याख्यान दिलवाना, वाचनालय तथा पुस्तकालय खुलवाना ये सभी ऐसे कार्य हैं जो बहुत महत्व रखते हैं। परन्तु इन सबसे महत्वपूर्ण कार्य हिन्दी का कचहरी में प्रवेश कराना है। हिन्दी का यह वह अधिकार है जो जन्म-सिद्ध अथवा स्वभाव-सिद्ध होने पर भी लड़ कर प्राप्त किया गया है और जो जीत होने पर भी सहायकों की शिथिलता के कारण यों ही पड़ा है। डिग्री हो चुकी है, परन्तु इजराय कराना अभी बाकी है। डिग्रीदार यदि क्रियाशील

नहीं रहा तो असम्भव होने पर भी तमादी आरिज़ होना कोई कठिन बात नहीं।

परन्तु बलिया क्षेत्र की साहित्यिक भाषा होने पर भी आजकल की खड़ीबोली उसकी मातृभाषा नहीं है और न प्रान्तीय दृष्टि से वह हमारे अधिक काम की है। सब कुछ होते हुए भी हमें अपनी मातृभाषा भोजपुरी को नहीं भूलना चाहिए। यद्यपि ब्रजभाषा, बुन्देलखंडी, राजस्थानी वा अवधी के समान भोजपुरी अपना प्रकाशित ग्रंथ-संग्रह नहीं दिखला सकती, तथापि इसके बोलने वालों की जानकारी में ही अप्रकाशित, किन्तु अत्यन्त महत्वपूर्ण साहित्य-भंडार पड़ा हुआ है जिसका सामाजिक तथा साहित्यिक एवं ऐतिहासिक दृष्टियों से जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। भोजपुरी साहित्य की उन्नति का जो अभाव है वह हमारी हीनावस्था का द्योतक है। इसके प्रकाशन, प्रचार तथा निर्माण की ओर सभा को विशेष ध्यान देना उचित है। भोजपुरी के प्राचीन गीतों में कुछ तो पँवारे हैं; जैसे—लोरकी, बिजयमल, बनजरवा आदि कुछ छोटे-छोटे पद्य हैं; जैसे—दोहरे, सोरठी, भजन, बारहमासी, बिरहा, तथा लघु कथा-गीत आदि। कुछ स्त्रियों के ग्राम्यगीत हैं; जैसे—मंगल, झूमर, कजरी, जतसार, सोहर आदि और कुछ भांडर हैं; जैसे—घाघ की कहावतें तथा ज्योतिष और वैद्यक के चुटकुले। इनके सिवाय कुछ ऐसे पद्य हैं जो थोड़े दिन ही पहले के बने हुए हैं; जैसे—बटोहिया और विदेशिया के गीत अथवा गोरखिणी तथा योरुपीय युद्ध के समय बनाये गए पद्य। इन गीतों अथवा पद्यों के पढ़ने अथवा सुनने पर जो भाव उदय होते हैं वे बड़े कवियों की कृतियों के अध्ययन और मनन से नहीं आ सकते। मातृ-भाषा के गीत सुनने वाले के हृदय में प्रवेश करने के लिए उसके निमंत्रण की अपेक्षा नहीं करते वे आप से आप उदय हो जाते हैं, किन्तु अन्य भाषा के गीतों के विषय में ठीक यह बात नहीं है। उनके समझने अथवा उनका तात्विक अर्थ निकालने में वास्तव में कुछ कठिनाई होती है।

अपनी भाषा की वीर गाथाओं तथा बारहमासियों को एकत्र करने का यत्न बंगाल के विद्वानों ने किया है। डॉक्टर दिनेशचन्द्र सेन ने अपनी पुस्तक 'बंग भाषा ओ साहित्य' में इनके बहुत से उदाहरण भी दिये हैं। गुजराती की गाथाओं तथा भंडली वाक्यों का संग्रह भी आजकल काठियावाड़ में बहुत कुछ हो रहा है और मराठी वालों ने भी थोड़ा बहुत संग्रह किया है। किन्तु हिन्दी भाषा की किसी बोली में पाये जाने वाले ऐसे पद्य वा गीत अभी तक एकत्र नहीं हुए हैं। रॉयल एशियाटिक सोसायटी के जर्नल अथवा इंडियन ऐंटिक्वेरी में प्रकाशित किये गए पद्य बहुत कम हैं। आशा है, सभी हिन्दी-प्रेमियों का ध्यान इस ओर आकृष्ट होगा।

हिन्दी प्रचारिणी सभा बलिया में चै० शु० १३ को रविवार के दिन सं० १९८० में स्थापित हुई थी। तब से अनेक कष्टों को झेलते हुए भी इसके सच्ची लगन वाले कार्यकर्त्ता निरन्तर कुछ न कुछ करते हुए दीख पड़ते हैं। तीन वर्ष के ही भीतर आशातीत उन्नति कर दिखलाना तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रचार करने वाली संस्थाओं में प्रथम गिनी जाने योग्य बना देना अभी तक थोड़े से ही लोगों का काम रहा है। सर्वश्री जगदेव उपाध्याय, हरिकृष्णराय, शिव प्रसाद सिंह, विन्ध्येश्वरी प्रसाद सिंह, बाबू जानकी प्रसाद जैसे मनस्वी इनमें प्रमुख हैं। परन्तु थोड़े मनुष्य अन्ततोगत्वा थोड़े ही हैं और जब तक आप महानुभावों की कृपा इनकी सहायता के लिए न बनी रहेगी, तब तक हम लोग सब कुछ करते हुए भी कुछ नहीं कर पायेंगे। अभी कार्य बहुत अधिक करना है और इसलिए अधिक कार्यकर्त्ताओं की बड़ी आवश्यकता है। हमें पूर्ण विश्वास है कि आप हमारे कर्तव्य-पालन, क्योंकि मातृ-भाषा की उन्नति करना हम सबका कर्तव्य है, में पूरी सहायता प्रदान करेंगे।

एक बार मैं फिर आप सबका हृदय से स्वागत करता हूँ।

१८. हमारे लोकगीत

गीत हमारे हृदय के सच्चे भावों के परिचायक हुआ करते हैं और लोकगीत हमारे ग्रामीण हृदय के दर्पण के समान हैं। भारतवर्ष ग्राम प्रधान देश है और उसकी सभ्यता का अधिकांश उसके गाँवों में ही विकसित हुआ है। अतएव, यदि यह कहा जाय कि भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता को पूर्ण रूप से समझने के लिए, उसके लोकगीतों का अध्ययन कर लेना बहुत आवश्यक है, तो कोई अत्युक्ति न होगी। इसके सिवाय हमारी प्रान्तीय भाषाओं के अन्तर्गत गाँवों में व्यवहृत होने वाली कई भिन्न-भिन्न बोलियाँ हैं जिनमें यद्यपि लिखित साहित्य का अभाव-सा है, तथापि उनके बोलने वालों की स्मृति में मौखिक परंपरा का एक ऐसा बहुमूल्य कोष वर्तमान है जिसका ज्ञान हमारी साहित्यिक शक्ति की वृद्धि में बहुत कुछ सहायक हो सकता है। इनके संग्रह से हमारे साहित्यों के भाण्डार भी पूर्ण कहलाने के योग्य हो सकते हैं और साहित्यिक मनोरंजन भी हो सकता है। फिर, भाषा-विज्ञान के अनुसार तुलनात्मक विवेचन के लिए बोलियों का अध्ययन करते समय तो लोकगीतों के उदाहरण उन्नत साहित्यों के प्रधान ग्रंथों से भी किसी प्रकार कम उपयोगी नहीं सिद्ध हो सकते। इस प्रकार सामाजिक अथवा ऐतिहासिक तथा साहित्यिक और वैज्ञानिक इन सभी दृष्टियों से हमारे लोकगीत ध्यान देने योग्य हैं।

कुछ ऐसे ही विचारों से प्रेरित होकर तथा अंग्रेजी, फ्रेंच आदि पाश्चात्य भाषाओं के संग्रहों का अवलोकन कर हमारी बंगला, मराठी

गुजराती आदि प्रान्तीय भाषाओं के प्रेमियों ने अपने यहाँ के गाँवों में घूम-घूम कर वहाँ के प्रचलित मुख्य-मुख्य गीतों, पँवाड़ों तथा मांडल वाक्यों को एकत्र करने का निश्चय किया है। इस कार्य को आरम्भ करते समय पहले-पहल कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने ही नेतृत्व ग्रहण किया था। डॉक्टर सर जार्ज ग्रियर्सन साहब ने उस समय हिन्दी भाषा के भी कुछ लोकगीतों का संग्रह प्रकाशित कराया था। किन्तु उस समय हिन्दी प्रेमियों ने इस ओर उचित ध्यान नहीं दिया। श्री रामनरेश त्रिपाठी का प्रारम्भिक कार्य इस दिशा में उल्लेखनीय है। हिन्दी एक बड़े विस्तृत भूखण्ड की मातृभाषा है और इसके अन्तर्गत बहुत-सी बोलियाँ भी हैं। इस कारण यदि हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों में पूरा परिश्रम किया जाय तो धीरे-धीरे एक ऐसा संग्रह तैयार हो सकता है जो किसी भी प्रान्तीय भाषा के संग्रह से कई गुना बड़ा होगा। यह संग्रह हिन्दी की मातृ-भूमि आर्यावर्त में आज दिन तक सुरक्षित हमारी सभ्यता का दिग्दर्शक मात्र ही न होगा, प्रत्युत इससे हमारे साहित्य की पुष्टि तथा कलेवर-वृद्धि भी होगी। सम्भव है, एक दिन इसी संग्रह के सहारे हम अपनी इतिहास-माला के उन पुष्पों का भी पता चला सकेंगे जिनका अभाव हमारे इतिहासकारों को अनेक उलझनों में डाले हुए है।

हिन्दी की कई बोलियों में से एक भोजपुरी भी है जो इसकी बिहारी शाखा के अन्तर्गत आती है। डॉक्टर ग्रियर्सन आदि विद्वानों की राय में बिहारी का सम्बंध हिन्दी से नहीं है, किन्तु उससे यह प्रभावित मात्र हुई है। परन्तु यहाँ इस विषय में इतना ही कह देना पर्याप्त है कि यद्यपि बिहारी की अन्य बोलियाँ बंगला के अन्तर्गत स्पष्ट रूप से आ सकती हैं, तथापि भोजपुरी और विशेषकर इसके पश्चिमी रूप पर पूर्वी हिन्दी की इतनी गहरी छाप है कि उसे हिन्दी की ही बोलियों में सम्मिलित कर लेना कोई बड़ा दोष न होगा। भोजपुरी बोली बिहार के कुछ पश्चिमी जिलों और उत्तर प्रदेश की बनारस तथा गोरखपुर की

कमिश्नरियों के अधिकांश में बोली जाती है। इतने बड़े भूखण्ड में बोली जाने के कारण इसमें भाषा की दृष्टि से कुछ स्थानीय भिन्नताएँ अवश्य पायी जा सकती हैं, किन्तु विषय की दृष्टि से लगभग सभी बातें एक ही हैं। ग्रामीण स्त्रियाँ लगभग एक ही प्रकार के गीत गाती हैं, पुरुष वही राग अलापते हैं और कथा-कहानी के पद्यमय गीत तथा कहावतें एकदम वही हैं। भोजपुरी हमारे बलिया जिले की मुख्य बोली है और यहाँ के गाँवों के गीत और कहावतें सभी इसी बोली में हैं। बलिया जिले के लोकगीतों के कई विभाग हो सकते हैं, जैसे (१) वीरगाथा अर्थात् लोरकी, विजयमल, आल्हा आदि (२) प्रेम-कहानी अर्थात् बेहुला, बनजरवा आदि (३) फुटकल अर्थात् सोरठी, दोहरा, बिरहा, सेर आदि (४) पुरुष गायन अर्थात् चैता, बरहमासी, होरी, पूरबी आदि (५) स्त्री-गायन अर्थात् कजरी, झूमर, मंगल, जतसार, सोहर आदि तथा (६) कहावत अर्थात् भांडर अथवा कृषि वैद्यक या ज्योतिष सम्बंधी चुटकुले और कहाउति आदि। इनके सिवाय बहुत-से छोटे-छोटे गीत गद्य कहानियों के कहते समय बीच-बीच में गाये जाते हैं जो बड़े ही मनोहर होते हैं। उपर्युक्त सभी प्रकार के उदाहरण यद्यपि गीत के नाम से नहीं पुकारे जा सकते, तथापि गीतों के आधिक्य के कारण उन्हें लोकगीत में ले लिया गया है। परन्तु ये चाहे वास्तव में गीत कहलाने योग्य हों अथवा केवल पँवारे वा भांडर ही हों, लगभग इन सभी में एक ही प्रकार की सरलता एवं स्वाभाविकता दीख पड़ती है, जिनके कारण इन्हें हमारे अन्तस्तल तक पहुँचने में कुछ भी विलम्ब नहीं होता। ये हमारे ग्राम्य जीवन तथा हमारी ग्रामीण आदर्श प्रणाली के सच्चे दर्पण हैं। इनकी आलंकारिक भाषा तथा इनके भावों में यदि कहीं-कहीं अस्वाभाविकता की गंध आ जाती है तो यह अपने ग्रामीण कवियों के अनिश्चित और अपरिमित आवेश का दोष है। इसमें अनैतिहासिकता अथवा अवैज्ञानिकता भले ही आ जाय, साहित्यिक मनोरंजन अभिलाषी इन्हें सदा अपनायेंगे। केवल भावों की दुर्बोधता नहीं चाहिए।

ऐसे लोकगीतों के रचना-काल अथवा कवि आदि के सम्बंध में अभी तक कोई निर्णय नहीं हो सका है और न ऐसी दशा में कुछ किया ही जा सकता है। सदा एक प्रकार गाये जाते रहने के कारण उनमें समय के चित्र खोजे जा सकते हैं, किन्तु ये भी सब गीतों के विषय में नहीं कहे जा सकते। वास्तव में, आज तक इस ओर किसी ने उचित ध्यान ही नहीं दिया और जब तक संग्रह तैयार न हो और तुलना न की जाय, तब तक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इस समय इतना ही कहा जा सकता है कि जो गीत हमारे यहाँ गाते पाये जाते हैं उनमें से हिन्दू-काल के पूर्व का एक भी नहीं जान पड़ता। इन लोकगीतों का एकत्रीकरण किसी जिले के लिए कुछ कठिन नहीं दीख पड़ता। उदाहरण के लिए बलिया के इस छोटे से जिले में भिन्न-भिन्न स्थानों पर कई मिडिल स्कूल हैं और उनके अन्तर्गत कई प्राइमरी स्कूल भी हैं। इसके सिवाय यहाँ की हिन्दी प्रचारिणी सभा ने अपने सुभीते के लिए भिन्न-भिन्न केन्द्र भी स्थापित किये हैं। अब यदि इन उपर्युक्त स्कूलों अथवा केन्द्रों के हिन्दी-प्रेमी इस कार्य को अपने हाथ में लें तो भिन्न-भिन्न गीतों के कई पाठ हमारे सामने बड़ी सुगमता से आ सकते हैं जिनकी तुलना करके हम कोई शुद्ध पाठ स्थिर कर सकते हैं। इस कार्य में हिन्दी-प्रेमी पटवारी तथा कानूनगो आदि भी सहायता दे सकते हैं? सबसे आवश्यक बात यह होगी कि प्रत्येक गीत का पाठ जैसा सुना जाय ठीक वैसा ही लिखा भी जाय और तब फिर सबका मिलान करके निश्चय किया जाय अथवा टीका-टिप्पणी की जाय। इस प्रकार परिश्रम द्वारा किये गए सभी संग्रह बलिया हिन्दी-प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय अथवा अन्य किसी संग्रहालय में सुरक्षित रखे जा सकते हैं और ऐसी कार्यवाहियों की रिपोर्ट संग्रह-कर्ताओं के नाम के साथ हिन्दी पत्रों में प्रकाशित की जा सकती हैं। अन्त में संग्रह पुस्तकाकार प्रकाशित हो सकते हैं। इधर प्रान्तीय सरकार का भी ध्यान इस ओर गया है, किन्तु उसे पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। इसके लिए वैज्ञानिक साधनों का भी उपयोग किया जाना चाहिए।

एकत्रीकरण का उपर्युक्त कार्य हिन्दी-भाषा-भाषी अन्य प्रान्तों के लिए पथ-प्रदर्शक का काम देगा। बहुत सम्भव है कि निकट भविष्य में ही हम हिन्दी-प्रेमी एक ऐसा विशाल संग्रह उपस्थित कर देंगे जिससे हमारे हिन्दी साहित्य की एक बहुत बड़ी कमी दूर हो जायेगी। इस प्रकार हम उन अन्य प्रान्तीय भाषाओं के प्रेमियों से भी पीछे न रहेंगे जो इस कार्य में अनवरत परिश्रम कर रहे हैं। साथ ही अपने समाज की सभ्यता और संस्कृति के मूल तत्व समझने के मार्ग में हमें बहुत अच्छा एक साधन भी मिल जायगा।

१६. सखुन तकिया

आपस में बातचीत करते समय सब लोग अपने हृदय के भावों को भली-भाँति प्रकट नहीं कर पाते। इस कारण, उसकी कमी को दूर करने के लिए उन्हें बहुधा अनेक प्रकार के साधनों का प्रयोग करना पड़ता है। बहुत-से लोग अपनी अँगुली वा अपने हाथ से संकेत करते जाते हैं, कितने आँखें मटकाते वा फेरा करते हैं, कितने सिर हिलाते हैं, कितने मुँह बनाते हैं, कितने दूसरों के हाथ पैर, अथवा पीठ आदि पर अपने हाथ पटका करते हैं और बहुत से लोग तो आवेश में आकर आसन छोड़ कर खड़े तक हो जाते हैं। यही नहीं, स्वयं उनकी बातों में भी हमें कभी-कभी ऐसे शब्दों अथवा वाक्यों के प्रयोग सुनने को मिलते हैं जो साधारण रूप से देखने पर व्यर्थ कहे जा सकते हैं। परन्तु बातचीत करते समय इन्हें कहने वाले ऐसा नहीं समझते और बहुत दिनों से बार-बार कहते-कहते स्वभाव पड़ जाने के कारण बहुधा ये शब्द वा वाक्य उनके मुँह से बेअवसर भी निकल पड़ते हैं। देहातों में ये बातें बहुत देखने में आती हैं, किन्तु शहरों में भी इनका अभाव नहीं और अशिक्षितों के सिवाय शिक्षित समाज में भी इनके बहुत प्रयोग होते हैं। ऐसे ही पूर्तिकारक शब्दों अथवा वाक्यों को उर्दू में 'सखुन तकिया' अथवा 'तकिया क़लाम' कहा जाता है।

'स़खुन तकिया' प्रायः प्रत्येक बोली में पाया जाता है, क्योंकि ऐसी बोली का होना अत्यन्त कठिन है जिसके बोलने वाले सभी अपने-अपने भावों को बिना किसी बाहरी साधन के सहारे पूर्णरूप से व्यक्त

कर सकते हों। हम कुछ ऐसे ही प्रयोगों के उदाहरण भोजपुरी तथा खड़ी बोली से नीचे देते हैं जिन्हें ध्यानपूर्वक देखने से पता चलेगा कि अमुक प्रयोग अमुक कमी की पूर्ति करता है। इन्हें प्रयोग में लाने वाले अपने को अथवा जिससे बातें कर रहे हों उन्हें अमुक रूप में समझते हैं।

	खड़ी बोली में—	भोजपुरी में—
१. सूचना, पता या समाचार-देते समय—(अ) जब कि सुनने वाले में पूर्ण विश्वास हो	समझ लीजिए, समझिए कि, समझो कि	जानी किजे, जानबिजे जनिह जे
(ब) जब कि सुनने वाले में कम विश्वास हो—	समझे ? समझा ?	जनलीं ? बुझलीं ?
२. किसी बात को स्पष्ट करते समय—	मतलब कि, यानी, अथवा	वही
३. किसी बात को पूरा करने की इच्छा से—	जैसे कि	जइसे की
४. किसी बात को स्मरण करते हुए—	क्या कहते हैं !	का कहावेला
५. विश्वास दिलाते समय—	आपसे कहता हूँ, आप से कहते हैं ! तुमसे कहते हैं	रावा से कहि देतानीं, तोहरा से कहतानीं
६. अपना महत्व दिखाते हुए—	हम कहते हैं वा मैं कहता हूँ।	हम कहतानीं

७. बेपरवाही दिखलाते समय—	जोहो, हमें क्या	जे वाइसे, जे बाटे से, रामजी का इच्छा रो
८. समझ लेने की इच्छा से—	हाँन, टीक न !	अच्छा नूँ, हँ नू
९. सन्देह दिखलाते हुए—	एँ ? क्यों ?	एँ ? कइसे ?

इस प्रकार, ऐसे प्रयोगों के कई और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं। कालेजों में लेक्चर देते समय बहुत से प्रोफेसर साहिबान तो Well, you see और I say के प्रयोगों द्वारा नाकों दम कर देते हैं। विस्मयादि बोधक अव्ययों के प्रयोग जो व्याकरणों में देखे जाते हैं उनके ये कदाचित् वृहत् रूप हैं, क्योंकि इनका भी अभिप्राय बड़े-बड़े शब्दों को थोड़े से शब्दों अथवा वाक्यों में व्यक्त कर देना है।



२०. मन का महत्व

प्रायः सबके अनुभव की बात है कि अपने दैनिक जीवन में हम कभी-कभी किसी कार्य को आरम्भ करके बाहरी विघ्न-बाधाओं के न रहते हुए हुए भी उसे पूर्ण नहीं कर पाते। हम उसके महत्व को भली-भाँति समझे रहते हैं और उसका श्री गणेश करते समय हौसले के साथ बड़े-बड़े मंसूबे भी बाँधा करते हैं, किन्तु आगे चलकर हमारे यत्न अनायास ढीले पड़ जाते हैं और किसी न किसी प्रकार हम उसे बीच में ही छोड़ बैठते हैं। उस समय तक हमारे निश्चय में एक प्रकार की शक्तिहीनता-सी आ जाती है और हम अनजान में भी किसी न किसी विरोधी कारण का ही सहारा पकड़ने के उत्सुक दीख पड़ते हैं। अपने अभीष्ट के प्रति उदासीनता के विकास तथा अपने उत्साहों के क्रमिक ह्रास की इस अपूर्व घटना को अपने अधूरे कार्य के इतिहास में प्रायः हम सभी नित्यप्रति देखा करते हैं। कभी-कभी बीती बातों के विषय में पश्चात्ताप का प्रदर्शन भी कर दिया करते हैं, किन्तु हम इसके मूल कारण का पता लगाने की ओर समुचित ध्यान देते हुए नहीं जान पड़ते।

उक्त घटना बहुधा अनुभव में आती रहने पर भी एक पहेली के समान है। उसे समझने के पहले हमें यह स्मरण रखना आवश्यक है कि जिन ज्ञानेन्द्रियों (आँख, कान, जीभ, नाक और त्वचा) एवं कर्मेन्द्रियों (हाथ, पैर, वाणी, गुद और उपस्थ) का हम किसी कार्य के साधन में उपयोग करते हैं उनका संचालन एक भिन्न अन्तरिन्द्रिय अथवा अन्तःकरण द्वारा हुआ करता है जिसे 'मन' कहते हैं। मन का असली काम कल्प-विकल्प करना है, किन्तु जिस समय वह चिन्तनशील रहता

है उसे 'चित्त' और अच्छे-बुरे की जाँच पर कुछ निश्चय करता है तो 'बुद्धि' के रूपों में भी समझा जाता है। अपनी मानसिक क्रियाओं पर थोड़ा-सा भी विचार करने पर पता चल जायेगा कि मन ज्ञानेन्द्रियों द्वारा कराये गए अनुभवों को अपनाकर उन्हें एक ओर बुद्धि की कसौटी पर कसा करता है और दूसरी ओर निश्चय होते ही उसके अनुसार हमारी कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने काम करने लग जाती हैं। ये सारी बातें इतनी शीघ्रता के साथ होती हैं कि हम उन्हें सहसा समझ भी नहीं पाते। वास्तव में, हमारा मन हमारी उक्त दसों इन्द्रियों का राजा है और हमारे दैनिक जीवन के निर्वाह में इसका सबसे अधिक हाथ है। इसकी कार्य-पद्धति अत्यन्त गम्भीर एवं रहस्यपूर्ण है और इसके स्वभाव आदि को भली-भाँति समझ लेने पर ही अपनी कठिनाई दूर की जा सकती है।

मन को इसके जानकारों ने अत्यन्त चंचल, किन्तु साथ ही दृढ़ एवं ज़िद्दी भी बतलाया है। यह किसी एक बात पर जल्दी जमना नहीं चाहता। अतएव, यदि इसे वश में लाने की चेष्टा भी की जाय तो हमें बहुधा सफलता नहीं मिलती। जब तक हम एक जगह इसे स्थिर करना चाहते हैं, तब तक यह कहाँ से कहाँ चला जाता है। यह अत्यन्त सूक्ष्म एवं सरल है और जिस प्रकार जल वा वायु को मुट्ठी में बाँधना कठिन है, उसी प्रकार इस पर भी किसी प्रकार का बँधन डालना असम्भव-सी बात है। परन्तु सब कुछ होते हुए भी यदि यह किसी ओर ढल जाय तो वहाँ से इसका हटाना भी वैसा ही दुष्कर कार्य है। जहाँ यह जम गया, वहाँ कि सारी बातें इसकी अपनी हो गईं। यह उन सबका एक रंग तैयार कर उसमें मानो गोता-सा लगा लेता है। फिर कहीं क्षण भर के लिए जाता भी है तो सब कुछ उसी रंग में रँगता फिरता है। यही कारण है कि जब मन चंचल रहता है तो हम कभी किसी कार्य वा वस्तु पर पूरा ध्यान नहीं दे पाते। यदि यह एक जगह लग गया तो अन्य बातों से हमारा लगाव प्रायः छूट-सा जाता है।

अब हम यदि अपने किसी उपर्युक्त अधूरे कार्य के ही व्यतिक्रम का थोड़ी छान-बीन के साथ अध्ययन करें तो जान पड़ेगा कि उसके महत्व के मानने, उसके लिए तत्पर होने, उसके उत्साह पूर्वक आरम्भ करने एवं कुछ समय तक उसके भली-भाँति निबाहने में भी हमारे मन का पूरा सहयोग रहा होगा। किन्तु उसी प्रकार उक्त कार्य की ओर से अरुचि उत्पन्न करने, उसके प्रति क्रमशः उदासीन होने, उसमें विघ्न उपस्थित होने देने तथा अन्त में उसे छोड़ देने तक में भी उसी ने सहायता की होगी। हम उसी बात को प्रायः इस ढंग से भी कहा करते हैं कि अमुक कार्य को पहले हमने कुछ दिनों तक मन लगा कर किया, किन्तु आगे चल कर उसमें हमारा मन नहीं लगा और हमने उसे छोड़ दिया। हम ऐसे अवसरों पर बराबर उस एक मन की ही करतूत का वर्णन किया करते हैं और एक प्रकार से ऐसी ही स्थिति को ध्यान में रख कर "मन के हारे हार है, मन के जीते जीत" जैसी बातें कही जाती हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से तो मन के स्वभाव तथा उसके स्वामित्व द्वारा उत्पन्न अच्छे-बुरे फलों को यहाँ तक महत्व दिया जाता है कि "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः" कह कर उसे सारे दुःखों एवं परम सुख का भी मूल कारण बतला दिया है।

स्वभावतः चंचल मन स्थिर किया जा सकता है और उसके स्थायी रूप की सहायता से हम अपना बड़ा से बड़ा काम कर सकते हैं, इतना सिद्ध हो जाने पर भी उसे स्थिर करने के सुगम उपाय हमें ढूँढ़ने पर नहीं मिलते। आध्यात्मिक साधनाओं में लगे हुए लोग प्रायः कहा करते हैं कि अपने अभीष्ट का निरन्तर चिन्तन करने का अभ्यास डालना चाहिए। इस क्रिया में क्रमशः इतनी दृढ़ता लानी चाहिए कि हमारी सारी चित्त-वृत्तियाँ विवश होकर अन्त में एकोन्मुखी हो जायँ। परन्तु यह चिन्तन सम्बंधी अभ्यास लाख यत्नों के होते रहने पर भी बहुधा फलीभूत नहीं होता। इसी कारण, उक्त साधकों में से अधिकांश यह भी बतलाते हैं

कि वास्तव में इस कार्य की सिद्धि परमात्मा के अनुग्रह पर ही अधिक निर्भर है। इधर सांसारिक जीवन में सफलता चाहने वाले भी मन को स्पष्ट रूप में महत्व देकर भी, अपने कार्य में लगे रहने पर ही अधिक ध्यान दिलाते हैं और असफलता की दशा में किसी अज्ञात संयोग अथवा अपने भाग्य को कोसने लगते हैं। अन्य विपरीत कारणों के न रहने की दशा में मन का दायित्व किस सीमा तक मानना चाहिए इसका निर्णय प्रायः किसी कार्य को असफलता के समय नहीं किया जाता। ऐसे अवसरों पर हम यह भी नहीं जानना चाहते कि हमारा मन उक्त कार्य को करते समय कहाँ तक स्थिर था और उससे कहाँ तक आशा की जा सकती थी।

मन की स्थिरता में आयी हुई दृढ़ता के अंशानुसार उसके कई भिन्न-भिन्न रूप हो सकते हैं और विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिए हम इनमें से तीन मुख्य भेदों का उल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं। स्थिर मन की पहली स्थिति उसे मानना चाहिए जब वह किसी घटना, वस्तु वा भाव-विशेष से प्रभावित होकर पूर्ण चन्द्रमा के आकर्षण द्वारा उठने वाली समुद्र की लहरों के समान, उस ओर कुछ काल के लिए आकृष्ट हो जाता है। ऐसे समय यह साधारण चित्त-वृत्तियों से प्रायः उसी प्रकार अधिक स्थायी होता है जैसे साधारण लहरों से ज्वार-भाटे की लहरें अधिक स्थायी वा ऊँची होती हैं और दोनों का लौट कर अपने अपने स्थानों पर फिर आ जाना अनिवार्य है। ऐसी स्थिति में मन बहुधा क्रोध, शोक, हर्ष वा ग्लानि आदि से अभिभूत होकर न्यूनाधिक क्षुब्ध हो उठता है। कुछ काल तक वह इनके प्रभाव में इतना अधिक रहता है कि साधारण प्रकार की बाधाओं के आ जाने पर उन्हें सहन नहीं कर पाता, अपितु क्रोध, शोकादि कुछ तीव्र विकारों की दशा में और अधिक उत्तेजित होकर अनर्थ तक कर बैठता है। परन्तु फिर भी यह अवस्था उसकी निम्न श्रेणी की ही स्थिरता का द्योतक है। इसी कारण, इसे केवल मनोवृत्ति का नाम दे सकते हैं।

मनोवृत्ति से कुछ अधिक स्थायी समझी जाने योग्य वह स्थिति है जिसके रहते मन अधिक काल तक प्रभावित बना रहता है और जिसका कुछ न कुछ प्रभाव मनुष्य की जीवन-यात्रा तक पर पड़ जाता है। ऐसी स्थिति तब उत्पन्न होती है, जब मनुष्य के मन पर कोई गहरा प्रभाव पड़ता है और वह कुछ दिन, मास वा वर्षों तक भी उसकी विचार-धारा एवं आचरण को बदल दिया करता है। प्रायः देखा जाता है कि कुछ दिनों तक किसी साधु-महात्मा का सत्सङ्ग हो जाने अथवा किसी राजनीतिक आन्दोलन में थोड़े दिनों तक भी भाग लेने पर अनेक युवक अपने भविष्य के विषय में ऊटपटांग सोच लेते हैं। अपनी परिस्थिति पर पूरा ध्यान दिये बिना ही अपने मन की नवीन कल्पनाओं द्वारा केवल अभिभूत हो जाने के कारण अपना जीवनक्रम परिवर्तित कर देने पर सहसा आरूढ़ हो जाते हैं। किन्तु ऐसे परिवर्तन बहुधा चिरस्थायी नहीं होते, यद्यपि कुछ समय तक लोगों के हृदय में इनके विषय में पूरा भ्रम बना रहता है। कुछ अधिक सोचने वाले इन्हें सदा के लिए हाथ से निकल गया हुआ तक समझते हैं। फिर भी, वास्तव में मन के स्वभावों से परिचित व्यक्ति के लिए ऐसी दशा में भय की कोई बात नहीं रहती। वह जानता है कि ऐसे युवक प्रायः अधिक गहरे जल में नहीं रहते और वातावरण के स्पष्ट होते ही, फिर किनारे पर अनुभवी बन कर वापस आ जाते हैं। यह दशा केवल युवकों तक ही सीमित नहीं, यह हमारे मन की वृत्ति की स्थिति है। इसमें अपने जीवन का मार्ग सदा के लिए निश्चित न कर सकने वाले सभी लोग यदाकदा आ जाया करते हैं।

हमारे मन की सबसे अधिक स्थायी दशा वह है जिसे बहुधा प्रकृति के नाम से पुकारा करते हैं। यह शीघ्र नहीं आती, अधिकतर चिरन्तन अभ्यास क्रम पर ही निर्भर रहती है। परन्तु जब इसका आगमन हो जाता है तो फिर इससे कभी छुटकारा भी नहीं मिलता। प्रकृति की अवस्था में आमूल परिवर्तन होता है और मनुष्य के जीवन की वह स्थिति आ

जाती है जिसे 'पुनर्जन्म' का नाम दे सकते हैं। इसमें मनोवृत्ति की भाँति केवल मनोविकारों का रंग मात्र नहीं रहता और न प्रवृत्ति के समान विचार-परंपरा तथा व्यवहार-पद्धति में अल्पकालीन हेर फेर मात्र हो जाता है। यहाँ हमारा स्वभाव-विशेष निरे भिन्न रूप में आ जाता है। इसी कारण, हमारे आदर्श, उद्देश्य तथा साधन आदि सम्बंधी बातें तक और की और बन जाती हैं। कहते हैं कि प्राचीन काल के वाल्मीकि ऋषि का जीवन पहले डाकुओं का जीवन था। उसमें आगे चल कर ही परिवर्तन हुए और इस प्रकार के अनेक अन्य उदाहरण भी मिलते हैं। मन के स्रोत का प्रवाह अपना निर्दिष्ट मार्ग छोड़ कर कोई भी अन्य पथ ग्रहण कर सकता है। उसके लिए चिरस्थायी होकर प्रकृति के रूप में परिवर्तन होने मात्र की ही देर है। मन के सबसे बड़े महत्व का उदाहरण यहीं लक्षित होता है और इसी बात को ध्यान में रख कर हम भले अथवा बुरे जीवन अपना सकते हैं।

२१. स्वांतःसुखाय

'साहित्य-सृजन किसके लिए ?' प्रश्न का उत्तर देते समय साहित्यिकों में प्रायः मतैक्य नहीं दीख पड़ता। उनमें कम से कम दो ऐसे परस्पर विरोधी दल उठ खड़े हो जाते हैं जिनमें से कोई भी एक दूसरे की सुनना नहीं चाहता। एक का कहना है कि 'कला कला के लिए' का ही आदर्श ठीक है, क्योंकि बिना इसके कोई भी कृति विशुद्ध कलात्मक नहीं बन सकती। किन्तु दूसरा दल इस कथन में उद्देश्य-हीनता की गंध पाता है और इस प्रकार प्रस्तुत की गई कृति को निरर्थक तक ठहराने लग जाता है। पहले के अनुसार कोई भी साहित्यिक रचना वस्तुतः किसी कलाकार की व्यक्तिगत अभिव्यक्ति होती है जिसका स्वाभाविक बना रहना ही उचित है। इस कारण, यदि साहित्य-सृजन के समय उसके स्रष्टा का ध्यान किसी अन्य ओर बँटा रहे तो उसे आदर्श रूप नहीं मिल सकता। परन्तु दूसरे का कथन है कि ऐसी किसी भी वस्तु का कोई कलात्मक महत्व नहीं हो सकता और न उसका कोई मूल्य ही ठहराया जा सकता है, क्योंकि इसके लिए उसमें कुछ ऐसे गुण भी अपेक्षित होंगे जो समाज के लोगों को किसी प्रकार आकृष्ट कर सकें। इस प्रकार एक ओर जहाँ प्रथम दल में आत्म-केन्द्रित बनने की प्रवृत्ति दीख पड़ती है, वहाँ दूसरी ओर, द्वितीय दल के प्रधानतः बहिर्मुख रहने के कारण, किसी कलात्मक वस्तु में वह विशेषता नहीं आ पाती जो किसी कलाकार की प्रतिभा के सर्वथा उन्मुक्त रहने पर ही सम्भव है।

वास्तव में, ये दोनों दल अपने अपने मतों पर, उक्त प्रकार, आवश्यकता से अधिक बल देते जान पड़ते हैं। ऐसा लगता है कि

उनमें से कोई भी साहित्य के वास्तविक आदर्श की ओर पूरा ध्यान देने की चेष्टा नहीं करता। साहित्य, अपने मूल रूप में, किसी व्यक्तिगत अनुभूति की केवल वही अभिव्यक्ति है जो दूसरों के लिए बोधगम्य भी हो। सुनसान जंगलों में अकस्मात् चहक उठने वाले पक्षी के स्वर-विस्तार का भी स्वभावतः कोई न कोई लक्ष्य अवश्य रहा करता है। पता नहीं, उस प्राणिवर्ग में किसी प्रकार के कलात्मक सृजन की शक्ति भी है या नहीं, किन्तु हम उक्त स्वर-लहरी को प्रायः 'कलरव' की संज्ञा देते हैं। उसमें संगीतात्मक स्वर-माधुर्य का अनुभव करते हैं तथा कभी-कभी उसके लय के सहारे उसके आधारभूत विविध भावों तक का अनुमान करने लग जाते हैं। साहित्य में तो सदा हमें ऐसे शब्दों के प्रयोग मिलते हैं जिनके कोई न कोई निश्चित अर्थ न हो और उन्हें वहाँ पर कोई ऐसा काम भी दिया गया हो जिससे उनमें निहित भावों की उचित संगति बैठ सके। अतएव हम उन्हें चाहे किसी साहित्यकार के व्यक्तिगत भावोद्रेक का माध्यम भले ही कह लें वे इसके साथ निरुद्देश्य भी नहीं माने जा सकते। क्योंकि एक ओर जहाँ वैसी कृति में उसके निजी भाव ही प्रतिबिम्बित होंगे, वहाँ दूसरी ओर उसके शब्दों में वह शक्ति भी रह सकती है जो दूसरों को उसकी ओर एक विशेष ढंग से आकृष्ट करा सके।

साहित्यिक सत्य तक पहुँचने के लिए उक्त दोनों ही पक्षों का समुचित अनुपात में प्रबल बना रहना अपेक्षित है। एक के अधिक सबल होने तथा दूसरे के अपेक्षाकृत निर्बल पड़ जाने से साहित्य में एकांगित्व का दोष आ सकता है। व्यक्तिगत हृदय की बातों का सामाजिक हृदय के साथ साधारणीकरण न होने से वैसे उद्गारों की सार्थकता जाती रहेगी। उनमें कोई व्यापकता भी न आ सकेगी तथा इसी प्रकार, सामाजिक प्रसंगों का कोरा विवरण बन जाने पर भी, साहित्य उनके एक बृहत् फोटो के अतिरिक्त और किसी भी महत्व का न हो सकेगा। परन्तु दोनों

बातों में उचित सामंजस्य आ जाने पर साहित्यिक सत्य हमें प्राकृतिक सत्य से भी अधिक मूल्यवान् लग सकता है। फिर साहित्य का मूलस्रोत ही क्या हो सकता है? क्या साहित्यकार की प्रतिभा कभी हमें किसी असम्भाव्य का परिचय दिलाती है? अपने दैनिक जीवन में हम निरन्तर सुख-दुःख वा रागद्वेषादि के अनुभव करते रहते हैं और नित्यशः हम अपने से बाहर की बातों द्वारा भी प्रभावित होते रहते हैं जिससे उत्पन्न भाव हमारे भीतर विविध विचार-परंपराओं को जाग्रत कर देते हैं। इस प्रकार हमारा हृदय भिन्न-भिन्न क्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओं का क्रीड़ा-स्थल-सा बन जाता है जिसके दृश्यों को हम स्वभावतः कभी तटस्थ बनकर नहीं देख पाते। अतएव जब कभी हम वहाँ के परिणामों को अपने बाहर व्यक्त करने लगते हैं तो उन पर कुछ न कुछ अपना रंग भी चढ़ा देते हैं।

'साहित्य' नाम वस्तुतः ऐसे ही अभि व्यक्तीकरण के परिणाम को दिया जाता है जो भाषा के माध्यम द्वारा प्रस्तुत किया रहा करता है। इसकी सामग्री न तो विशुद्ध व्यक्तिगत होती है और न वह शुद्ध सामाजिक ही कहला सकती है। कोई भी साहित्यकार अपने को सामाजिक प्रभावों से सर्वथा निर्लिप्त नहीं रख सकता और न वह कभी ऐसी किसी भाषा का ही प्रयोग कर सकता है जिसकी उत्पत्ति समाज से पृथक् हुई हो अथवा जो उसके लिए नितान्त अपरिचित कही जा सके। फलतः वह अपनी कृति के वर्ण्य विषय तथा उसकी भाषा इन दोनों के ही लिए अपने समाज का ऋणी कहा जा सकता है। केवल इतना ही है कि जो कुछ उधार लेता है उसे प्रकट करते समय तक वह उस पर कुछ न कुछ अपना भी रंग चढ़ा दिये रहा करता है। वास्तव में, ऐसे रंग का चढ़ना तभी से आरम्भ हो जाता है, जब से वह उसे ग्रहण करने लगता है और उसकी अनुभूति में जितनी गहराई होती है, उतना ही उस रंग में गाढ़ापन भी आ जाता है। ऐसी दशा में प्रत्येक रंग दूसरे से भिन्न भी हो सकता है, किन्तु यदि

अनुभूति में पूरी सचाई हो और उसे प्रखर प्रतिभा का आधार भी मिल सके तो ऐसी भिन्नता कभी देश काल के पूरा व्यवधान डालने पर भी मूलगत नहीं हो पाती। विश्व के जितने भी महान साहित्यिक होंगे उनकी अनुभूति की व्यापकता में कोई विशेष अन्तर न लक्षित होगा, उनकी चिन्तन-धारा सदा प्रायः एक समान प्रवाहित होती जान पड़ेगी। उनकी अभिव्यक्ति की शैली तक में हमें एक अपूर्व साम्य के दर्शन होंगे।

साहित्य की रचना दूसरों के लिए की जाती है इसमें किसी प्रकार का सन्देह करने की आवश्यकता नहीं। यह भी निश्चित-सा है कि ऐसे साहित्य से बहुत से लोग लाभ उठाते हैं और कभी-कभी इसके कारण उन्हें हानि भी उठानी पड़ जाती है। साहित्य की सृष्टि करने वाले के दृष्टिकोण अथवा उसकी कृति-विशेष के क्रमशः अच्छे वा बुरे प्रभाव के अनुसार ऐसा हुआ करता है। किन्तु इस सम्बंध में यह बात अवश्य उल्लेखनीय है कि साहित्य का स्रष्टा किसी बात को जितनी ही उदारता के साथ वा खुले हृदय से अपने अनुभव में लाये रहेगा और जितनी ही सचाई के साथ उसे हृदयंगम कर अपना भी लिये रहेगा, उतनी ही व्यापकता के अंश का उसके अभि व्यक्तीकरण में आना भी सम्भव हो सकता है तथा उसी अनुपात में उसका गुरुत्व भी बढ़ सकेगा। अनुभूति का सच्चापन ही उसमें गहराई एवं तीव्रता की भी मात्रा बढ़ा देता है और इस प्रकार, अपने ही भावों के भार से आक्रान्त हृदय, अपने को हल्का करने के उद्देश्य से, विकल होकर अभिव्यक्ति के लिए यत्नशील बन उठता है। सच्चे साहित्य का उद्देश्य केवल मनोरंजन नहीं हो सकता। उसका प्रमुख उद्देश्य न तो धनोपार्जन है, न यशोपलब्धि और न वह उपदेश दान अथवा सिद्धान्तों का प्रचार मात्र ही हो सकता है। वह इसलिए कुछ कहता है कि उसने उसे कहने की आवश्यकता का भी स्वभावतः अनुभव कर लिया है और जब तक वह उसे प्रकट नहीं कर लेता उसे

शान्ति नहीं मिल सकती चाहे इस बात का प्रभाव कहीं पर उचित मात्रा में पड़ सकता भी हो वा नहीं।

सूर्य नभोमंडल में चमकता है और वह अपने प्राकृतिक नियमों का अनुसरण करता है तथा सरिता किसी उद्गम स्थान से निकलकर वैसे ही नियमों के अनुसार अपने मार्ग से प्रवहमान होती रहा करती है। पहले को न तो इस बात की चिन्ता है कि किस प्रकार प्रकाशित हों जिससे धूप एवं प्रभा विश्व के अन्तर्गत उचित रूप में विकीर्ण हो सकें और न दूसरी को ही इसकी परवाह है कि अमुक क्षेत्र से होकर निकलने पर ही हमारे जल द्वारा जगत् को अधिक से अधिक लाभ पहुँचेगा। दोनों अपने-अपने कार्यों में संलग्न हैं और उनमें से कोई भी कभी उनसे विरत होना नहीं चाहता। परन्तु उनके अपने ही क्रम से अथवा अपने स्वाभावानुसार ही काम करते रहने का भी परिणाम दूसरों के लिए हितकर हो आया करता है। सूर्य और सरिता अपने आपमें पूर्ण हैं, जिस कारण क्रमशः उनकी किरणें तथा वारि-धारा भी विश्वजनीन प्रभाव डालने में समर्थ हैं। इस प्रकार, साहित्य का वास्तविक रूप भी, इस दृष्टि से, किसी व्यक्ति के आत्म-प्रकाशन का ही एक प्रमुख माध्यम हो सकता है। फलतः उसका अन्तिम लक्ष्य भी इसके अनुसार, केवल 'स्वांतःसुखाय' ही होना चाहिए। किन्तु साहित्य-स्रष्टा की व्यापक अनुभूति और बहुमुखी प्रतिभा के कारण, उसमें सार्वभौमता का गुण भी आपसे-आप आ जाया करता है और उसे हम समाज की सम्पत्ति मान लेते हैं।



२२. साहित्यिक की बेकारी

"मनुष्य केवल रोटी ही के आधार पर जीवित नहीं रह सकता" यह एक प्रसिद्ध अंग्रेजी कहावत है जिसका तात्पर्य यह है कि मानव-जीवन को सुरक्षित रखने के लिए जिस प्रकार जठराग्नि को शान्त करने की आवश्यकता है, उसी प्रकार अथवा कदाचित् उससे कुछ ही कम आवश्यक यह भी है कि मनुष्य की मानसिक एवं हार्दिक पिपासा की भी तृप्ति की जाती रहे। वास्तव में, भूख और जिज्ञासा ये दोनों ही मानव जाति की चिरकालीन संगिनी हैं और इन दोनों को शान्त करने के यत्न में उसके जीवन के अधिक से अधिक दिन व्यतीत होते आए हैं। बुभुक्षा की शान्ति के उद्देश्य से उसने आदिकाल से आज तक भिन्न-प्रकार की अनेक जीविकाओं, जैसे उद्योग-धंधों, वाणिज्य, व्यवसाय और यहाँ तक कि, दासता तक को स्वीकार किया है। अपने कुतूहल की निवृत्ति के लिए उसने अपने भ्रमण, खोज, विचार-विनिमय अथवा अन्य अनेक साधनों के भी बल पर ज्ञान-वृद्धि करके विचित्र कल्पनाओं की सृष्टि कर डाली है। ये दोनों ही प्रेरणाएँ उसके कर्मशील बने रहने में पूरी सहायता प्रदान करती आई हैं। इन दिशाओं की ओर अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसने अनवरत परिश्रम किये हैं।

यह नहीं है कि ये दोनों प्रेरणाएँ किसी प्रकार मूलतः भिन्न-भिन्न हों और किसी एक का दूसरे से लगाव न हो। तथ्य यह है कि जिस प्रकार पेट की ज्वाला शान्त होने पर भी, हमें अपने मानसिक आनन्द की कामना चैन के साथ बैठने नहीं देती और हम एक से छुट्टी पाते ही

दूसरी के भी बन्धन की प्रतीक्षा में लग जाते हैं, उसी प्रकार हमारे मानसिक आनन्द का अनुभव भी तभी पूर्ण कहला पाता है, जब हमें पेट की चिन्ता से भी मुक्ति मिल जाती है। "भूखे भगति न होहिं गुपाला" की प्रसिद्ध कहावत चाहे पहले कभी किसी भक्त एवं भगवान के पारस्परिक संवाद की कल्पना से ही क्यों न प्रचलित हुई हो, उसके सच्चे व्यवहार का उत्कृष्ट उदाहरण हमें किसी अर्थहीन कलाकार की मूक वेदना में बराबर मिल सकता है। इसी बात को हम, यदि चाहें तो, इस प्रकार भी कह सकते हैं कि चित्र, शिल्प, संगीत, साहित्य जैसी विविध कलाओं का प्रादुर्भाव, वस्तुतः हमारी अतिरिक्त शक्ति ही के परिणामस्वरूप है। अतएव, जिस प्रकार किसी प्याले के पूरा भर जाने पर ही उसके छल-कने की आशा की जा सकती है, उसी प्रकार मनुष्य के लिए कला-निर्माण की चेष्टा करना तभी सम्भव हो सकता है, जब उसने अपनी साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति पहले ही से कर ली हो। इस प्रकार, उसका चित्त स्वस्थ और अविकृत हो।

परन्तु साहित्यिक का जीवन कलाकार का जीवन है। इसीलिए यह प्रायः अनिवार्य-सा है कि वह भी अपनी काल्पनिक सृष्टि वा स्वानुभूति की अभिव्यक्ति में तभी पूर्णतः सफल हो सकेगा, जब उसे अपनी कृति के अच्छे स्वागत पर भी विश्वास हो। किसी साहित्यिक के लिए यह स्वाभाविक है कि वह अपने आनन्द के अनुभव में किसी दूसरे को भी साक्षी बनता देखना चाहे। निर्जन वन में खिला हुआ सुन्दर पुष्प अपने समय पर ही झड़ा करता है, किन्तु किसी उत्कृष्ट रचना का निर्माण करनेवाला साहित्यिक यदि सहानुभूति न पा सके, तो उसका असमय ही में श्रीहीन पड़ जाना अवश्यम्भावी हो जाता है। भूखा मनुष्य अपना पेट भरने का काम केवल भोजन करके चला ले जाता है, किन्तु, साहित्यिक का कार्य केवल उसकी रचना की समाप्ति ही से पूरा नहीं हो जाता उसे किसी सहृदय समाज की भी आवश्यकता पड़ जाती

है। अपनी निजी सांसारिक आवश्यकता की पूर्ति न हो पाने पर वह अपनी केवल कृति के सम्यक् निर्माण ही में असमर्थ रहता है, किन्तु यदि उसके परिश्रम के परिणाम का यथोचित आदर न हो सका, तो उसे अपनी मृत्यु-जैसे कष्ट का भी अनुभव होने लगता है। संस्कृत के किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

इतरतापशतानि यथेच्छया
वितर तानि सहे चतुरानन !
अरसिकेषु कवित्वनिवेदनम्
शिरसि मा लिख, मा लिख, मा लिख !

अर्थात्, हे ब्रह्मा, मुझे अन्य चाहे जो भी कष्ट झेलने पड़ें, मैं उन्हें सहन कर लूँगा। किन्तु, मेरे कपाल में हृदयहीन व्यक्ति के समक्ष अपनी कविता सुनाने का मौका हर्गिज़ न लिख मारना।

साहित्यिक की बेकारी उक्त दोनों ही दशाओं में प्रायः एक-समान आ सकती है। जब तक अपनी क्षुधा की निवृत्ति का समुचित प्रबन्ध न हो सके, निर्विघ्न रूप से वह अपनी कल्पना को दौड़ने के लिए उन्मुक्त नहीं कर सकता और न कोई भी कृतिकार अपने आदर्शों के अनुसार स्वाभाविक स्वच्छन्दता के साथ किसी कलात्मक वस्तु का सर्जन कर सकता है। समाज की हृदयहीनता तथा उदासीनता भी उसे उसी प्रकार निरुत्साहित होकर बैठ जाने के लिए विवश कर देती है। पहली दशा में यदि किसी साहित्यिक की रचना निर्जीव है, तो दूसरी में निरुपादेय है और इन दोनों में से किसी में भी उसका कोई मूल्य नहीं है। उस कलाकार का सारा श्रम व्यर्थ और बेकार चला जाता है और उसकी स्थिति बेकारी से किसी प्रकार भी कम कष्टदायक नहीं होती। एक साधारण श्रमिक अपने दैनिक जीवन का भली-भाँति निर्वाह चाहता है और एक पूँजीपति चाहता है कि वह अपने उपार्जन द्वारा, न केवल अपनी संचित

सम्पत्ति में किसी प्रकार का ह्रास न आने दें, अपितु उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि भी करता चले। किन्तु कलाकार की आकांक्षा इन दोनों से विलक्षण हुआ करती है। उसकी कामना यदि अपने दैनिक जीवन तक ही सीमित रह गई, तो वह अपनी नैसर्गिक प्रतिभा का दुरुपयोग करता है। यदि वह अपनी कला की संख्या-वृद्धि के फेर में पड़ गया तो, उस दशा में भी वह अपने उस पद को सुरक्षित नहीं रख सकता जिसका वह स्वभावतः अधिकारी है।

श्रमिक की बेकारी विशुद्ध आर्थिक होती है और वह अपने श्रम के मूल्य द्वारा सम्पन्न बना रहकर उसका अवसर नहीं आने देना चाहता। किन्तु पूँजीपति की बेकारी कोरी आर्थिक ही न रहकर समाज के अन्य विभागों तक को स्पर्श करने लग जाती है। पूँजीपति को धन के अतिरिक्त यश, मान एवं अधिकार की भी चाह रहा करती है और वह 'अर्थ' के स्तर से कहीं अन्यत्र का भी संकेत करती है। वह अपनी पूँजी से केवल पूँजी की वृद्धि करना मात्र ही अपना उद्देश्य नहीं रखता। इसी कारण, उसकी बेकारी उसे एक ऐसे ढंग से भी प्रभावित कर सकती है जिसका अभ्यस्त प्रायः श्रमिक नहीं रहा करता और जो कम कष्टदायक भी नहीं है। कलाकार इस बात में पूँजीपति के अधिक समान जान पड़ता है। वह भी मान चाहता है, प्रतिष्ठा चाहता है और प्रोत्साहन चाहता है। प्रमुख अन्तर केवल इतना ही है कि पूँजीपति की ख्याति जहाँ उसके धन-वैभव की प्रचुरता में ही आँकी जा सकती है, वहाँ कलाकार का सम्मान उसकी केवल एक वा दो कृतियों के भी कारण हो सकता है। पूँजीपति को अपनी प्रसिद्धि अर्जित करने के लिए अपने दैनिक जीवन का स्तर ऊँचा करना पड़ता है, दानादि द्वारा अपनी उदाराशयता प्रदर्शित करनी पड़ती है और जाने अनजाने बहुत-से ऐसे अन्य कार्य भी करने पड़ जाते हैं जिनसे दूसरों का ध्यान आकृष्ट हो। किन्तु कलाकार को ऐसे यत्नों में लगने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। उसके लिए केवल सच्चा

हार्दिक स्वागत ही सभी कुछ है।

इस प्रकार किसी साहित्यिक को न तो हम श्रमिक की श्रेणी में रख सकते हैं और न उसे पूँजीपति ही कह सकते हैं। वह यदि पहले की भाँति अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति का इच्छुक है तो उसी प्रकार वह इस बात की चाह भी रखता है कि मेरी कृति को समुचित महत्व मिले और उसका अपने समाज में स्वागत हो। इस दूसरे उद्देश्य के लिए वह अपनी दैनिक सुविधाओं को तिलांजलि तक दे सकता है और विविध कष्टों को सहन कर सकता है। वह अपने मान की उपलब्धि केवल अपने समकालीन समाज ही की ओर से नहीं चाहता वह अपनी अमरता तक की महत्वाकांक्षा रखता है। वह तो अपनी धुन में यहाँ तक स्वप्न देखता है कि वर्तमान समाज ने यदि मुझे किसी प्रकार न भी समझ पाया, तो भी एक दिन ऐसा अवश्य आ सकता है, जब मेरी कृति के सच्चे पारखी मिल जायेंगे और मेरा नाम लेंगे। उसे न केवल अपनी कृति के वास्तविक मूल्य पर विश्वास रहता है, अपितु उसे मानवी सहृदयता के प्रति भी पूरी आस्था रहा करती है। तथ्य भी यही है कि यदि उसे मानवी हृदय की सच्ची पहचान है, तो वह किसी दिन अमर होकर ही रहेगा। अतएव, साहित्यिक की बेकारी पर विचार करते समय हमें उतनी दूर तक सोचने की आवश्यकता नहीं है। इस सम्बंध में हमारे लिए केवल इतना ही पर्याप्त है कि हम वास्तविक साहित्य-सर्जन के प्रति उपेक्षा का भाव रखनेवाले समाज में पड़े हुए एक साहित्यिक की मनोदशा को समझ पाने का यत्न करें तथा उसकी दयनीयता का अनुमान करें।

मानव-समाज साहित्य को किसी समय विशुद्ध कला के रूप में देखता था और इसे ललित कलाओं में स्थान देता था। वह उसकी गहरी भावाभिव्यक्ति का अन्यतम प्रमुख साधन था और उसके मनोरंजन का एक सुन्दर माध्यम भी था। अपने इतिहास के धार्मिक युगों में उसने इससे कभी समुचित प्रेरणा प्राप्त की थी और इसे पथ-प्रदर्शक तक बनाया

था। इसे वह एक ओर जहाँ अपने प्रपंच-प्रसूत विष को दूर कर देनेवाला सिद्धहस्त गारुड़ी मानता था, वहाँ दूसरी ओर इसे बहुधा घोरतम अंधकार में भी प्रकाश की किरणें देने वाला ज्योतिःस्रोत भी समझता था। इसीलिए साहित्य-स्रष्टा को कभी उसने किसी साधारण श्रमिक का स्थान देना उचित नहीं समझा, प्रत्युत 'कवि' के रूप में उसने इसे क्रान्तदर्शी ठहराया तथा "सर्वज्ञ, सर्वोत्कृष्ट एवं स्वयंभू" तक की पंक्ति में बिठाने में हिचक नहीं की। कवि और साहित्यिक में उन दिनों कोई अन्तर न था और वे दोनों सदा एक ओर अभिन्न माने जाते थे तथा उनकी कृति का उद्देश्य 'यशसे' और 'अर्थकृते' न होकर 'शिवेतर क्षतये' एवं 'कान्ता संमित तयोपदेशयुजे' मात्र ही था। प्रथम दो तो दूसरे दोनों के पीछे आपसे-आप आ जाते थे। आज भी साहित्यिक अपने वैसे आदर्शों का सर्वथा भुला देना नहीं चाहता, किन्तु समाज से उसे प्रोत्साहन की आशा नहीं रह गई है।

आधुनिक युग में आर्थिक एवं राजनीतिक वातावरण का बोलबाला है। इन्हीं दोनों दृष्टियों से आज सभी बातें देखी जा रही हैं। समाज के आधुनिक महारथी अपनी सारी समस्याओं को उसी रंग में रँगे हुए साधनों द्वारा सुलझाने में यत्नशील हैं और वे एक साहित्यिक को भी आह्वान कर रहे हैं कि वह उन्हीं के पैरों से पैर मिलाकर चलें और उनका हाथ बँटायें। साहित्य आज पूर्ववत् कलात्मक काव्य का समानार्थी नहीं रह गया है, प्रत्युत उस शब्द की अर्थ-बोधकता अधिक व्यापक बन गई है। वह आज केवल काव्येतर कृतियों का भी बोधक न रहकर समूचे वाङ्मय का प्रतिनिधित्व करने लगा है जिससे उसकी पहली विशेषताओं की ओर ध्यान देना आवश्यक नहीं रह गया है। इसी कारण, उसके महत्व में भी कमी आ गई है। फलतः किसी साहित्यिक को एक साधारण श्रमिक से बढ़कर मान देने का भी कोई अर्थ नहीं। यदि वह केवल 'अर्थ' एवं अधिक से अधिक 'यश' ही का भूखा है जिन्हें वह पहले गौण स्थान दिया

करता था, तब तो उसके मार्ग में कोई बाधा नहीं। परन्तु, यदि वह अपने पिछले गौरव की ओर भी ध्यान देता है, तो उसकी कल्पना क्रमशः ठंडी पड़ने लगती है। उसकी सारी उमंगों पर पानी फिरने लग जाता है और वह अपने मार्ग को चारों ओर से अवरुद्ध पाने लगता है। ऐसी दशा में उसका अकर्मण्य तक बन जाना असम्भव नहीं, क्योंकि एक ओर जहाँ, अन्तर्वेदना की टीस का अनुभव करते रहने के कारण, उसे अपना अन्तर्नाद तक ठीक-ठीक सुनायी नहीं देता, वहाँ वह दूसरी ओर इस फेर में पड़ जाता है कि यदि कुछ करें भी, तो किसके लिए? यह स्थिति किसी भी राष्ट्रीयजीवन के लिए घातक है। साहित्यकार को इसके प्रति सजग रहना है।

२३. एशियाई साहित्य में वैचारिक एकता

एशिया महाद्वीप के मानचित्र पर दृष्टिपात करने से पता चलेगा कि पूर्व की ओर जापान से लेकर पश्चिमी एशिया माइनर तक तथा उत्तर की ओर साइबीरिया से लेकर दक्षिणी इन्दोनेशिया तक यह एक अत्यन्त विस्तृत भूखण्ड के रूप में फैला हुआ है और बहुत विशाल है। इसमें अनेक बड़े-बड़े पहाड़ हैं, अनेक बड़ी-बड़ी नदियाँ हैं तथा बीच-बीच में बहुत-से ऐसे समुद्री भाग भी आ जाते हैं जिसके कारण इसके अंग बने हुए विभिन्न देश एक दूसरे से पृथक्-पृथक् हो जाते दीख पड़ते हैं और उनमें किसी पारस्परिक सम्बंध का होना उतना सम्भव नहीं जान पड़ता। इसके सिवाय इस विषय पर विचार करते समय, हमें यह भी पता चलता है कि इसके व्यापक क्षेत्र में अनेक भिन्न-भिन्न जातियाँ बसती हैं जिनके शारीरिक गठन, रूप, रंग, वेष-भूषा तथा रहन-सहन एवं रीति-रिवाज में महान् अन्तर है और जिसकी भाषाओं में भी कोई समानता नहीं है। कुछ लोगों का कहना है कि इस महाद्वीप के अन्तर्गत कम से कम चार प्रमुख मानव वर्गों के लोग रहते हैं। एक ओर यदि यहाँ पर चीन जैसे देश में मंगोलियन वर्ग के लोग निवास करते हैं तो दूसरी ओर इन्दोनेशियन ऑस्ट्रिक वर्ग वाले भी हैं। इसी प्रकार जहाँ एक ओर यह भारतीय जैसे आर्यों का निवास-स्थल है तो दूसरी ओर इसी भूभाग में अरब जैसे देशों के सेमिटिक वर्ग वाले भी रहा करते हैं। इतना ही नहीं इस महाद्वीप ने ही विश्व के उन बड़े-बड़े धर्मों को भी जन्म दिया है जिनके कारण यहाँ तथा अन्यत्र भी अब तक बराबर मतभेद और मतमतान्तरों को प्रश्रय मिलता आया है और उनके बहाने

भीषण युद्ध तक लड़े गए हैं। अतएव यों देखने पर पहले यही अनुमान किया जा सकता है कि यहाँ के निवासियों में कभी वैचारिक एकरूपता सम्भव नहीं हो सकती।

परन्तु, यदि यहाँ के उपलब्ध विशिष्ट साहित्यों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो हम कुछ इसके विपरीत परिणाम भी देख सकेंगे। उस दशा में हमें पता चलेगा कि उन सारी बातों के होते हुए भी यहाँ के निवासियों में उनके देश, जाति, अनुवंश, धर्म एवं भाषादि के कारण सर्वथा भिन्न प्रतीत होती हैं। यहाँ कतिपय ऐसी परंपराएँ तथा विचार-धाराएँ भी काम करती आई हैं जिनमें न केवल अद्भुत साम्य है, अपितु जो कभी-कभी प्रायः ठीक ही प्रकार की भी लगती हैं। यहाँ के साहित्यकार कभी-कभी एक ही प्रकार की कल्पना करते जान पड़ते हैं। वे प्रायः एक ही प्रकार से उसकी अभिव्यक्ति चाहते हैं, लगभग एक ही प्रकार के साहित्यिक साधनों का सहारा भी लेते हैं जिससे उनकी मनोवृत्ति के रूप-साम्य पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है। आश्चर्य तो यह है कि ऐसी बातें विशेष कर प्राचीन काल की ही रचनाओं में मिलती हैं जिस समय यातायात के साधन सुगम न थे तथा जब के लिए यह भी कहा जा सकता है कि वह विविध संघर्षों का युग था। जब मानव-जीवन में उतनी स्थिरता न थी और न कोई व्यवस्था ही थी। ऐसे प्राचीन साहित्य केवल संग्रहों के रूप में मिले हैं। उनके रचयिताओं का कोई व्यक्तिगत परिचय नहीं मिलता, न यही पता चलता है कि वे किस निश्चित काल में एवं किस प्रदेश के किस खण्ड विशेष में रचे गए होंगे। ऐसे उपलब्ध साहित्यों में से हम अरबी, इब्रानी, ईरानी, खोतानी, हित्ती, अक्कादी, चीनी, जापानी एवं वैदिक साहित्य के नाम ले सकते हैं। इनमें से सभी का आकार एक समान बड़ा नहीं है, न सब किसी में उन सारी बातों का समावेश पाया जाता है जो यहाँ उल्लेखनीय हैं।

एशिया के उपलब्ध प्राचीन ग्रंथों की एक बहुत बड़ी विशेषता यह

जान पड़ती है कि उनमें अकेले किसी एक ही विषय का समावेश नहीं पाया जाता, न उनमें केवल ऐसे ही प्रसंगों का उल्लेख मिलता है जिसका मानव जीवन के किसी एक पहलू के साथ सम्बंध हो। उनमें जहाँ कहीं धर्मानुष्ठान, पितृ-पूजा एवं देवताओं के प्रति स्तुति-गान की चर्चा आती है, वहाँ एक ही साथ राजनीति, लोकनीति, आर्थिक-जीवन एवं पारस्परिक युद्ध के प्रसंग छेड़ दिये गए दीख पड़ते हैं। इसी प्रकार, एक ओर जहाँ कहीं दार्शनिक अथवा साहित्यिक सिद्धान्तों का आदान-प्रदान होता जान पड़ता है, वहाँ दूसरी ओर बहुत-सी ऐसी बातें भी आ गई रहती हैं जिनका सम्बंध गृहस्थ्य के आदर्श प्रेमालाप अथवा रोग-व्याधि विषयक झाड़-फूँक एवं तंत्र-मंत्र तक से रहा करता है। भारतीय वैदिक साहित्य में, यदि कहीं यज्ञानुष्ठान के प्रसंग आते हैं तो कहीं स्वर्ग, अन्तरिक्ष एवं पृथ्वी के देवता वर्ग के प्रति प्रकट किये गए स्तुति-परक उद्‌गार भी मिलते हैं। उसी प्रकार, यदि वहाँ कहीं प्राकृतिक दृश्यों के काव्यात्मक वर्णन उपलब्ध होते हैं तो उसके साथ ही अन्यत्र आर्येतर जातियों के साथ युद्ध एवं प्रेमियों के वार्तालाप तथा आध्यात्मिक रहस्योद्‌घाटन भी पाये जाते हैं। इब्रानी साहित्य के प्रसिद्ध प्राचीन ग्रंथ 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' एवं चीनी के 'शेहकिंग', एवं 'शूकिंग' नामक वैसी ही पुस्तकों में भी हम धार्मिक एवं व्यावहारिक बातों में कहीं भी कोई अन्तर प्रदर्शित किया गया नहीं पाते। लगभग यही बातें हमें उन अरबी एवं जापानी साहित्य के पुराने ग्रंथों द्वारा भी सिद्ध होती जान पड़ती है जो उनके परवर्ती कहे जा सकते हैं। अतएव, यदि हम इससे यह परिणाम निकाल सकें तो कदाचित् अनुचित न होगा कि एशिया के प्राचीन निवासियों ने मानव जीवन को कभी खण्ड-खण्ड करके देखने का यत्न नहीं किया, प्रत्युत उनका अन्तिम लक्ष्य उसकी न्यूनाधिक सर्वांगीण अनुभूति की ओर ही रहा।

एशिया महाद्वीप के उपलब्ध प्राचीन महान् ग्रंथों में हमें सृष्टि

सम्बंधी की गई कल्पनाएँ भी लगभग एक ही प्रकार की मिलती हैं। कहते हैं कि ईसा के लगभग ३२०० वर्ष पूर्व, वर्तमान इराक देश के दक्षिणी भाग में दजला-फ़रात नदियों के मुहाने के आस-पास कहीं कोई जल-प्रलय हुआ था जिसकी चर्चा वहाँ के उपलब्ध प्राचीन अक्कादी साहित्य में की गई मिलती है। वहाँ पर कोई जिउसुद्दू नामक व्यक्ति इस जल-प्रलय की कहानी को अपने वंशधर गिल्गमेश से कहता हुआ पाया जाता है जो उस नाम से ही प्रसिद्ध अक्कादी महा-काव्य का नायक भी है। जिउसुद्दू का वहाँ कहना है कि किस प्रकार तूफ़ान एवं प्रचण्ड वृष्टि का अवसर उपस्थित हुआ तथा किस प्रकार इसके विषय में पहले से ही संकेत पाकर वह अपने कतिपय साथियों सहित नौका पर भाग निकला और अपने को सुरक्षित रख सका। उस नौका में ही जो 'जीव-बीज' बचाये जा सके थे उनसे पीछे फिर सृष्टि चली और उसका प्रवाह-क्रम जारी रखा जा सका। जल-प्रलय की कहानी के कुछ अंश एशिया माइनर में प्राचीन पट्टिकाओं पर उपलब्ध हित्ती साहित्य में पाये गए हैं। इसी का एक रूप उस प्रसिद्ध नोआ की प्रलय-कहानी में भी मिलता है जिसका वर्णन इब्रानी साहित्य के प्राचीन 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' ग्रंथ में आयी है। वैदिक साहित्य के 'शतपथ ब्राह्मण' नामक ग्रंथ एवं उसके पीछे रची गई मनुस्मृति जैसी पुस्तकों में भी इस प्रलय-कथा का ही एक अन्य रूप किंचित् भिन्न ढंग से निर्मित मिलता है। ईसाइयों के 'न्यू टेस्टामेण्ट' अथवा मुसलमानों का 'कोरान' तो उस पुरानी कथा का प्रायः अक्षरशः अनुकरण करते जान पड़ते हैं।

एशिया के प्राचीन महा-काव्यों की रचना भी लगभग एक ही प्रकार का विषय लेकर की गई दीख पड़ती है। उनमें या तो अपहरण, अनाचार वा पारस्परिक कलह के प्रसंग आते हैं जिनके कारण युद्ध छिड़ते हैं अथवा कोई भौतिक वा आसुरी बाधा उपस्थित हो जाती है जिससे संरक्षण पाना आवश्यक हो जाता है और तदनुसार कोई शक्तिशाली महा-

पुरुष प्रकट होकर सारी स्थिति सँभाल लिया करता है। यह अलौकिक व्यक्ति वैसे महा-काव्य का नायक भी बनाया जाता है तथा इसके अति-मानुषिक कार्यों की भूरि-भूरि प्रशंसा की जाती है जिस 'गिलगमेश' महा-काव्य की अभी चर्चा की गई है उसमें भी प्रधानतः यही दिखलाया गया है कि उसके नायक गिलगमेश की सबसे बड़ी महत्वकांक्षा प्राणियों को मरण-भय से मुक्त कर देने की ही थी और उसने इस उद्देश्य से अनेक अवसरों पर अपना पराक्रम दिखलाया। संस्कृत साहित्य के महा-काव्य 'रामायण' एवं 'महाभारत' की रचना ठीक इसी प्रकार की गई नहीं दीख पड़ती। परन्तु, यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो उन दोनों का भी मूल उद्देश्य लगभग 'गिलगमेश' ही जैसा जान पड़ेगा। 'महाभारत' वाले दो दलों के पारस्परिक युद्ध की कथा, यद्यपि उससे कुछ भिन्न लगती है फिर भी, 'रामायण' वाले रामचरित के सम्बंध में भी हम यही नहीं कह सकते। 'महाभारत' वाली कहानी के प्रसंग में, यदि हम चाहें तो 'बाइबिल' के 'पण्टाट्यूक' नामक अंश की उस कथा की भी चर्चा कर सकते हैं जिसमें जोशुआ एवं सैमुअल नामी दो यहूदी दलों का पारस्परिक शत्रु-भाव वर्णित किया गया है। हाँ, वह कोई महा-काव्य नहीं है। जहां तक रामायण की मूल कथा का सम्बंध है, इसमें सन्देह नहीं कि इसका कोई न कोई रूप एशिया के प्रायः प्रत्येक साहित्य में अल्प अथवा बृहत् आकार से निर्मित मिलता है और वह अपने यहीं के निवासियों का न्यूनाधिक सांस्कृतिक अंग-सा बना चुका है। कहीं-कहीं तो इस कथा की छाया न ग्रहण करके उसका आदर्श मात्र ही अपना लिया गया जान पड़ता है, जैसा तिब्बत के राजा गेसर अथवा केसर तथा उसकी रानी बीरुगयों की कहानी से स्पष्ट है, जहाँ पर उसी के सहारे एक उत्कृष्ट महा-काव्य की रचना हो गई दीख पड़ती है।

एशियाई साहित्य की वैचारिक एकरूपता का आधार केवल उसके

स्वरूप अथवा वर्ण्य विषयों तक ही सीमित नहीं जान पड़ता। जब हम यहाँ के साहित्यज्ञों द्वारा दी गई तथा अधिकतर स्वीकृत भी कर ली गई काव्य की परिभाषा की ओर ध्यान देते हैं अथवा जब हम यहाँ के अनेक प्रमुख कवियों द्वारा अपनायी गई प्रसिद्ध अन्योक्ति एवं समासोक्ति-परक वर्णन-शैलियों पर विचार करते हैं तो हमें ऐसा लगता है कि इस एकरूपता की नीवें यथेष्ट गहरी तथा दृढ़ भी कही जा सकती है। वह केवल बाहरी वा स्थूल मात्र ही नहीं है। इब्रानी कविता के लिए कहा गया है कि वह मूलतः अनुभूति-परक होती है वह आवेश पर आश्रित रहती है और वहाँ चिन्तन का कोई स्थान नहीं। इसीलिए इब्रानी कवि ने जब कभी कोई गान किया है उसने अपना हृदय उड़ेल कर प्रकट कर दिया है, मस्तिष्क से उतना काम नहीं लिया है। इसी प्रकार, अरबी के कवि के लिए जिस 'शाअर' शब्द का प्रयोग किया जाता है उसका भी उत्पत्ति मूलक अर्थ 'अनुभवकर्त्ता' का ही होता है। अरबी भाषा का गद्य अपने ज्ञान, विज्ञान, गणित, इतिहास जैसे विषयों के कारण चाहे जितना शुष्क एवं चिन्तन, प्रधान हो उसके काव्यात्मक पद्य के लिए भी हम ऐसा नहीं कह सकते, न उसे इब्रानी काव्य से तत्वतः भिन्न ठहरा सकते हैं। यही बातें हम चीनी काव्य के विषय में भी कह सकते हैं जिसकी परिभाषा बतलाते हुए प्रो० गाइल्स ने कहा है कि स्वयं चीनियों के ही अनुसार वास्तविक काव्य उन हार्दिक भावों से भिन्न नहीं जो शब्दों द्वारा प्रकट किये गए हों जो हमें अपने यहाँ की परिभाषा "काव्य रसात्मक वाक्यम्" का भी स्मरण दिला देता है और जिससे रस की एकरूपता का अधिक स्पष्टीकरण हो जाता है।

जहाँ तक एशियाई कवियों द्वारा अधिकतर द्व्यर्थक भाषा वाली शैली के प्रयोग का प्रश्न है इसके उदाहरण भी हमें यहाँ बहुत प्राचीन काल से मिलने लगते हैं। हमें यह देख कर आश्चर्य होता है कि

किसी प्रकार का इसका प्रचलन इतना व्यापक हो सका होगा इब्रानी भाषा के प्रसिद्ध ग्रंथ 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' का एक विशिष्ट अंश 'सुलेमान के गीत' नाम से अभिहित किया जाता है जिसे यदि किसी ने एक प्रकार का नाटक समझा है तो दूसरों ने उसे निकट पूर्व कहे जाने वाले देशों के निवासियों के किसी कृषि-सम्बंधी उत्सव का वर्णन मात्र माना है। परन्तु आधुनिक समय के बहुत से आलोचकों ने बतलाया है कि वस्तुतः प्रणय सम्बन्धी लोकप्रिय गानों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इस कारण बहुत दिनों तक रब्बियों वा यहूदी पंडितों को उसे इस महान् ग्रंथ का अंग मान लेने में बराबर झिझक होती रही है। इस प्रश्न को केवल तभी सुलझाया जा सका है जब उन्हें इस बात का निश्चय हो गया कि उन गीतों द्वारा अभिव्यक्त प्रणय मूलतः स्वयं जिहोवा का इसरायल के प्रति है अथवा ईसाई धर्मानुसार यीशू का उसके चर्च के प्रति भी कहा जा सकता है। लगभग इसी प्रकार का एक दूसरा उदाहरण हमें फ़ारसी साहित्य में दीख पड़ता है, जहाँ सूफ़ी साधक का अपने इष्टदेव खुदा के प्रति प्रदर्शित किया गया 'इश्क हक़ीक़ी' किसी लौकिक प्रेमी एवं प्रेमिका के 'इश्क़ मजाज़ी' की कहानी द्वारा स्पष्ट किया गया मिलता है। इसके सिवाय हमें चीनी भाषा के ग्रन्थ 'शिहच्चिंग' में संगृहीत प्रेमगीतों के विषय में भी पता चलता है कि उनका सम्बंध साधारण व्यक्तियों के पारस्परिक प्रेम से न होकर स्वयं राजाओं तथा उनके मंत्रियों के बीच सौहार्द भाव के साथ रहा है और वह इसी कारण कुछ अंशों में राजनीतिक तक कहा जा सकता है। ऐसी रचनाओं का किसी-न-किसी रूप में भारतीय वैदिक साहित्य के अन्तर्गत भी अभाव नहीं है और हमें ऐसा लगता है कि इस प्रकार की द्व्यर्थकता के ही कारण एशिया के महान् धर्म-ग्रंथों की सदा अनेक भाष्यों की आवश्यकता पड़ती आई है।

धार्मिक, दार्शनिक एवं राजनीतिक विचार साम्य तथा अन्य प्रकार

की कतिपय सांस्कृतिक समानताओं के आधार पर कुछ लेखकों ने एशिया के चीन, भारत एवं जापान जैसे तीन महान् देशों के किसी एक पृथक् संघ की कल्पना की है और इस बात को कभी-कभी जापानी शब्द 'संगोकु' द्वारा व्यक्त करने की परम्परा भी प्रचलित है। हमें ऐसा लगता है कि ऐसे लोगों ने अरब से लेकर अफ़गानिस्तान तथा तुर्की से लेकर बिलोचिस्तान तक के प्रदेशों के महत्व को अपने ध्यान में नहीं रखा है, न यही यत्न किया है कि इनके प्रमुख साहित्यों के सारभूत सिद्धान्तों तथा सामान्य बातों का तुलानात्मक अध्ययन करें। यदि ऐसा किया जा सके तो इसमें सन्देह नहीं कि सारा का सारा एशिया महाद्वीप अपनी मौलिक विचार-धाराओं की दृष्टि से बहुत कुछ एक और अखण्ड प्रतीत होगा और जिन बातों की भिन्नता जान पड़ती है वे वस्तुतः वैचित्र्य मात्र के ही उदाहरण हैं। जितना यह भूखण्ड है उतनी ही इसमें अनेकरूपता लक्षित होती है, किन्तु उन सभी का मूलाधार वैचारिक एकरूपता में निहित है।

